एकादशोऽध्यायः

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सविता। छन्दः—विराडार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

मनो-योग

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्याऽअध्याभरत्॥१॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि प्रजापति और देवता 'सविता' है (सु प्रसवैश्वर्ययोः)। यह ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इसके लिए **प्रथमम्**=सबसे पूर्व **मनः**=मन को **युञ्जानः**=उस आत्मतत्त्व में लगाने की वृत्तिवाला बनता है। वस्तुतः मन को विषयों से हटाकर आत्मतत्त्व में लगाने का नाम ही योग है। इधर से उखाड़ना, उधर लगाना। २. इस योग के द्वारा यह **सविता**=ज्ञानैश्वर्य का साधक **धियः**=बुद्धियों को **तत्त्वाय**=(तनित्वा) विस्तृत करके उस प्रभु की ज्योति को देखता है। वह परमात्मा सब भूतों के अन्दर गूढ़ होते हुए भी दिखता नहीं। बुद्धि के द्वारा उस प्रभु का दर्शन तब होता है जब हम बुद्धि को तीव्र व सूक्ष्म करने का प्रयत्न करते हैं। **(एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः)**। ३. योगभ्यास के द्वारा सूक्ष्म हुई इस बुद्धि से **अग्नेः**=उस अग्रणी प्रभु के **ज्योतिः**=प्रकाश को **निचाय्य**=निश्चय से उपलब्ध करके ही मनुष्य **पृथिव्या अध्याभरत्**=इन पार्थिव भोगों से अपने को ऊपर उठा पाता है। **'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते'** विषय-रस तो उस परम प्रभु के दर्शन पर ही निवृत्त होता है और वस्तुतः इस विषय-रस की निवृत्ति होने पर ही मनुष्य इस पार्थिव देह से ऊपर उठता है, अर्थात् बन्धन से ऊपर उठकर मोक्ष का भागी होता है। ४. यहाँ प्रसङ्गवश यह स्पष्ट है कि वे प्रभु 'प्रकाश' रूप हैं। एक योगी अन्दर-ही-अन्दर इस ज्योति के दर्शन करता है। यह योग ही इस ज्योति के दर्शन का साधन है। इसे अनिर्विण्ण चित्त से करते चलने में ही कल्याण है। दीर्घकाल तक, निरन्तर, आदर से सेवित होने पर यह योग दृढ़भूमि होता है और हमें प्रभु से मिलाता है।

भावार्थ—मोक्ष-मार्ग का क्रम यह है—१. मन को आत्मतत्त्व में लगाना २. योग द्वारा बुद्धि का तनूकरण, बुद्धि को तीव्र बनाना ३. प्रभु के प्रकाश को देखना ४. विषय-रस निवर्तन तथा ५. मोक्ष।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सविता। छन्दः—शुङ्कुमतीगायत्री। स्वरः—षड्जः॥

कर्मयोग

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। स्वर्ग्याय शक्त्या॥२॥

१. पिछले मन्त्र में मन को विषयों से हटाकर आत्मतत्त्व में लगाने का प्रतिपादन था। यही 'योग' कहलाता है। 'स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा' इस योग को अनिर्विण्ण चित्त से सदा करते ही रहना चाहिए। इस योग के द्वारा **युक्तेन**=एकाग्र हुए **मनसा**=मन से **वयम्**=हम **सवितुः देवस्य**=उस प्रेरक दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु की **सवे**=प्रेरणा में, अर्थात् उसकी प्रेरणा के अनुसार **शक्त्या**=यथाशक्ति **स्वर्ग्याय**=स्वर्गसाधक कार्यों

के लिए प्रयत्न करें। २. योग के अभ्यास से हमने मन को स्थिर करने का प्रयत्न किया, परन्तु इस स्थिरता को नष्ट न होने देने के लिए आवश्यक है कि हम इसे किन्हीं उपयुक्त कर्मों में लगाये रक्खें अन्यथा यह फिर विषयोन्मुख हो हमें निरन्तर भटकानेवाला हो जाएगा। मन की दिशा को ही बदला जा सकता है, इसे बिलकुल समाप्त नहीं किया जा सकता। इसका वेग उत्तम कर्मों की दिशा में हो जाने पर यह सदा उन्हीं में लगा रहेगा और हमारे जीवन को स्वर्गतुल्य बना देगा। ३. उत्तम कर्म वे ही हैं जिनकी प्रेरणा प्रभु से दी गई है। वस्तुतः धर्म की अन्तिम कसौटी ही यह है कि जो हमारी आत्मा को, अर्थात् अन्तःस्थित प्रभु को प्रिय लगे, अतः मन को वश में करके हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान-प्राप्ति में लगाये रक्खें और कर्मेन्द्रियों को यज्ञादि उत्तम कर्मों में व्यापृत किये रहें। यही जीवन को सुखी बनाने का मार्ग है। यही सच्चा कर्मयोग है। ४. अकर्मण्य पुरुष का मन फिर पापों में जाने लगता है, अतः उसे उत्तम कर्मों में ही लगाये रखना है।

भावार्थ—१. मन को युक्त करें २. प्रभु से आदिष्ट कर्मों में उसे यथाशक्ति लगाये रक्खें ३. यही स्वर्ग-प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

इन्द्रिय-संयम

युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्॥३॥

गत मन्त्र का **सविता**=मन, बुद्धि व इन्द्रियों को उत्तम प्ररेणा देनेवाला योगी 'स्वर्ग्याय शक्त्या' शक्ति के अनुसार स्वर्ग-साधक कर्मों को करनेवाला है। यह **स्वर् यतः**=यज्ञादि उत्तम कर्मों से स्वर्ग की ओर जानेवाली **देवान्**=इन इन्द्रियों को **युक्त्वाय**= मनो-निरोध के द्वारा आत्मतत्त्व की ओर लगाकर **धिया**=बुद्धि व प्रज्ञानों से **दिवम्**=प्रकाशमय **बृहत्**=वृद्धि की कारणभूत **ज्योतिः**=ज्ञान की ज्योति परमात्मा को **करिष्यतः**=आत्मीय करता है। इस प्रकार **सविता**=यह आत्म-प्रेरणा देनेवाला योगी **तान् देवान्**=उन प्रकाशक इन्द्रियों को **प्रसुवाति**=प्रकृष्ट प्रेरणा प्राप्त कराता है।

संक्षेप में, १. सविता—इन्द्रियों को उत्तम प्रेरणा देनेवाला योगी इन्द्रियों को बहिर्मुखता से हटाकर अन्तर्मुखता की ओर ले-चलता है—यही इन्द्रियों का युक्त करना है २. यज्ञादि कर्मों से यह उन्हें स्वर्ग की ओर जानेवाला बनाता है ३. बुद्धि के द्वारा उस 'प्रकाशमय बृहत् ज्योतिः' अर्थात् परमात्मा को अपनानेवाला होता है। ४. यह इन्द्रियों को सदा उत्तम प्रेरणा देता रहता है। 'हे आँख! तूने भद्र ही देखना है। हे कान! तूने भद्र ही सुनना है।' इस प्रकार यह इन्द्रियों को सचमुच 'देव' बना डालता है।

भावार्थ—इन्द्रिय-संयम-यज्ञ को करते हुए हम स्वर्ग साधक-कर्मों को ही करें। ज्ञान प्राप्त करें। परमात्म-दर्शन के लिए प्रयत्नशील हों। इन्द्रियों को सदा उत्तम प्रेरणा दें।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः॥

ईश-ध्यान

युञ्जते मनऽउत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेकऽइन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥४॥

१. **विप्राः**=विशेषरूप से ज्ञान द्वारा अपना पूरण करनेवाले **होत्राः**=सदा यज्ञ करके खानेवाले ज्ञानी लोग **मनः युञ्जते**=मन को उस परमात्मा में लगाते हैं। २. **उत**=और **विप्रस्य**=ज्ञानी **बृहतः**=सदा वर्धमान **विपश्चितः**=सर्वद्रष्टा उस प्रभु के **धियः**=प्रज्ञानों को **युञ्जते**=अपने साथ जोड़ते हैं। ३. वह **एकः इत्**=एक ही **वयुनावित्**=सब प्रज्ञानों को जाननेवाला है और **विदधे**=इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का निर्माण करता है। ४. उस **सवितुः देवस्य**=प्रेरक देव की **परिष्टुतिः**=वेदों में सब ओर सुनाई पड़नेवाली स्तुति **मही**=महान् है। ५. जब हम अपने मन को विषयों से हटाकर उसे आत्मतत्त्व के दर्शन में लगाने का प्रयत्न करते हैं तब उस महान् ज्ञानी प्रभु की ज्ञानवाणियों को अपने साथ जोड़नेवाले बनते हैं। उन वाणियों द्वारा हम जान पाते हैं कि उस प्रभु ने ही सारे लोक-लोकान्तरों को बनाया है और उस प्रभु की स्तुति महान् है।

भावार्थ—हम अपने मनों को प्रभु में लगाने का प्रयत्न करें और उसकी बनाई इस सृष्टि में उसकी महिमा को देखने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

वाणी का श्रावण

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोकऽएतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वेऽअमृतस्य पुत्राऽआ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥५॥

१. **वाम्**=तुम दोनों पति-पत्नी को **नमोभिः**=नमन के द्वारा **पूर्व्यम्**=सृष्टि से पहले होनेवाले (अग्रे समवर्त्तत) **ब्रह्म**=प्रभु से **युजे**=सङ्गत करता हूँ। प्रातः-सायं नमस् की उक्तियों के द्वारा तुम प्रभु के समीप पहुँचते हो। २. इस प्रकार समीप पहुँचने पर **सूरेः**=उस उत्तम प्रेरणा देनेवाले ज्ञानी प्रभु की **श्लोकः**=छन्दोरूप वाणियाँ **पथ्या इव**=पथ-प्रदर्शिका के रूप में **विएतु**=तुम्हें विशिष्टरूप से प्राप्त हों। इन वाणियों में हम 'जीवन-यात्रा को किस प्रकार चलाना'—इस बात का विविध रूपों में उपदेश पाते हैं। ३. **विश्वे**=सब **अमृतस्य पुत्राः**=उस अमृत प्रभु के पुत्र, अर्थात् उस अमृत पिता की भाँति ही विषयों के पीछे न मरनेवाले योगिजन **शृण्वन्तु**=इन वाणियों को सुनें। ये वाणियाँ विषयासक्त पुरुषों को सुनाई नहीं पड़तीं। इन्हें तो वही सुनते हैं **ये**=जो **दिव्यानि धामानि**=प्रकाशमय तेजों के **आतस्थुः**=अधिष्ठाता बनते हैं। विषय-व्यावृत्त होकर यदि हम नम्रता से उस प्रभु के चरणों में उपस्थित होते हैं तो उस प्रभु की प्रकाशमयी वाणियों को सुन पाते हैं। यह विषय-व्यावृत्ति हमें दिव्य तेजों का अधिष्ठाता बनाती है।

भावार्थ—हम विषय-व्यावृत्त होकर उस अमृत पिता के अमृत पुत्र बनें, और उस पिता की प्रकाशमयी वाणियों को सुनें।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—निचृदार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

प्रभु-स्तुति

यस्य प्रयाणमन्वन्यऽइद्ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा।
यः पार्थिवानि विममे सऽएतशो रजाꣳसि देवः सविता महित्वना॥६॥

१. **यस्य देवस्य**=जिस देव के **प्रयाणम् अनु**=प्रयाण के निर्देशानुसार **अन्ये देवाः**=अन्य सब देव **इत्**=निश्चय से **ययुः**=चलते हैं। प्रभु ने इन देवों का जो भी मार्ग निश्चित

किया है उसी मार्ग पर ये सब निरन्तर चल रहे हैं। २. **यस्य ओजसा**=जिस देव के ओज से **अन्ये देवाः**=दूसरे सब देव **महिमानम्**=महिमा को **ययुः**=प्राप्त होते हैं। **'प्रभास्मि शशिसूर्ययोः'** इत्यादि वाक्यों के अनुसार सूर्य और चन्द्रमा आदि को उस प्रभु से ही प्रभा प्राप्त हुई है। **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**=उसी की चमक से सब पदार्थ चमक रहे हैं। जहाँ कहीं भी विभूति, श्री व ऊर्ज् है यह सब उस महान् देव का ही अंश है। **'तेन देवा देवतामग्र आयन्'**=देवों को देवत्व प्रभु से ही प्राप्त हुआ है। ३. **यः सविता देवः**=जो सबका उत्पादक देव **महित्वना**=अपनी महिमा से **पार्थिवानि रजांसि**=इन सब पार्थिव लोकों को **विममे**=विशेष माप से बनाता है। ४. **सः**=वही देव **एतशः**=(एतानि शेते) इन सब लोकों में निवास कर रहा है। उसके निवास से ही सब लोकों का धारण हो रहा है। सूर्यादि में प्रभु का निवास न हो तो वे एक बुझे कोयले की भाँति ही लगेंगे।

भावार्थ—१. प्रभु के प्रशासन में ही सब देव गति कर रहे हैं। २. उसके ओज से ही ये महिमावाले हो रहे हैं। ३. वही इन सबका निर्माण करते हैं। ४. वही इनका धारण करनेवाले हैं।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

प्रभु-भक्त के लक्षण (ज्ञान+माधुर्य)

देव॑ सवित॒: प्रसु॑व य॒ज्ञं प्रसु॑व य॒ज्ञप॑तिं॒ भगा॑य।
दि॒व्यो ग॑न्ध॒र्वः के॒तपू॒: केत॑न्नः पुनातु वा॒चस्पति॒र्वाचं॑ नः स्वदतु॥७॥

१. हे **देव सवितः**=दिव्यताओं के पुञ्ज, सबके प्रेरक प्रभो! **यज्ञं प्रसुव**=आप हममें यज्ञ की भावना को प्रेरित कीजिए। आप से प्रेरणा प्राप्त करके हम यज्ञशील हों। २. **यज्ञपतिम्**=मुझ यज्ञपति को, यज्ञों की निरन्तर रक्षा करनेवाले को, यज्ञशील को **भगाय प्रसुव**=ऐश्वर्य के लिए प्रेरित कीजिए। यज्ञमय जीवनवाला मैं यज्ञिय उपायों से ही सेवनीय धन का लाभ करूँ। ३. वह **दिव्यः**=प्रकाशमयरूप में स्थित होनेवाला **गन्धर्वः** =वेदवाणी का धारण करनेवाला **केतपूः**=ज्ञान को पवित्र करनेवाला प्रभु **नः**=हमारे **केतम्**=ज्ञान को **पुनातु**=पवित्र करे। उस प्रभु की कृपा से हमारी ज्ञानाग्नि पवित्र पदार्थों के ज्ञान से ही दीप्त हो। हम अपने मस्तिष्क में कूड़ा-करकट ही न भरते चलें। ४. और **वाचस्पतिः**=वाणी का पति प्रभु **नः वाचम्**=हमारी वाणी को **स्वदतु**=स्वादवाला बना दे। हमारी वाणी में माधुर्य हो।

भावार्थ—१. हमारा जीवन यज्ञमय हो। २. यज्ञिय उपायों से ही हम सेवनीय धन को प्राप्त करें। ३. हमारा ज्ञान पवित्र व उज्ज्वल हो। ४. वाणी मधुर हो। संक्षेप में यज्ञ का परिणाम भग—धन है, ज्ञान का परिणाम माधुर्य। यज्ञ से हम भग को प्राप्त करें, ज्ञान से माधुर्य को। यही प्रभु-भक्त के लक्षण हैं। प्रभु-भक्त के अन्दर ज्ञानाग्नि दीप्त हो रही होती है तो उसके बाह्य व्यवहार में मधुर, शान्त-वचनों का जल बहता है।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—भुरिक्शाक्वरी। **स्वरः**—धैवतः॥

विज्ञान+स्तुति

इ॒मं नो॑ देव सवितर्य॒ज्ञं प्रणा॑य देवा॒व्यꣳस॑खि॒विद॑ꣳसत्रा॒जित॑ं धन॒जित॑ꣳस्व॒र्जित॑म्।
ऋ॒चा स्तोम॒ꣳसम॑र्धय गाय॒त्रेण॑ रथन्त॒रं बृ॒हद् गा॑य॒त्रव॑र्त्तनि॒ स्वाहा॑॥८॥

१. हे **देव सविता**=प्रेरक, दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! **नः**=हमारे **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ

को **प्रणय**=आगे बढ़ाइए। (क) **देवाव्यम्**=जो यज्ञ वायु आदि सब देवों को (अवति=प्रीणयति) प्रीणित करनेवाला है। (ख) **सखिविदं**=जो यज्ञ हमें अपने सखा (परमात्मा) को (विद् लाभे) प्राप्त करानेवाला है। (ग) **सत्राजितम्**=जो सत्य का विजय करनेवाला है। (घ) **धनजितम्**=धन को जितानेवाला है। (ङ) **स्वर्जितम्**=सुख व स्वर्ग को जितानेवाला है। २. एवं, हमारे जीवन में उस यज्ञ का स्थान हो जो यज्ञ इहलोक व परलोक—दोनों का कल्याण सिद्ध करता है। वायु आदि सब देवों का शोधक होने से यह '**देवाव्य**' है, परमात्मा को प्राप्त करानेवाला है, जीवन को सत्यमय बनाता है। ३. हे प्रभो! आप हमारे जीवनों में **ऋचा**=विज्ञान से **स्तोमम्**=स्तुति को **समर्धय**=समृद्ध कीजिए। '**ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते**'=ज्ञान हमारे ध्यान में विशेषता उत्पन्न करनेवाला हो। पदार्थों के विज्ञान से हमें कण-कण में उस प्रभु की महिमा दिखे। उदाहरणार्थ—उड़द वातनाशक हैं, उड़द की दाल वातकारक है। प्रभु ने उड़द के दो दलों में एक पतली सींक-सी रक्खी है जो वातनाशक है। दाल बनाने पर वह छिटकी जाकर अलग हो जाती है, अतः उसका वातनाशक तत्त्व नष्ट हो जाता है। ४. **गायत्रेण**=(गयाः प्राणाः तान् तत्रे) प्राण-तत्त्व की रक्षा से **रथन्तरम्** =(ब्रह्मवर्चसं वै रथन्तरं—तै० २।७।१।१)। हमारे ब्रह्मवर्चस् को **समर्धय**=बढ़ाइए। हमारा शरीर प्राणशक्ति-सम्पन्न हो तो हमारा मस्तिष्क ज्ञान की सम्पत्ति से परिपूर्ण हो। ५. हमारा **बृहत्**=वृद्धि का कारणभूत स्तोम **गायत्र-वर्त्तनि**=प्राण के मार्गवाला हो, अर्थात् हम प्राणशक्ति-सम्पन्न हों और उस स्तुति के करनेवाले हों जो हमारी वृद्धि का कारण बनती है। ६. **स्वाहा**=इस सबके लिए हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले हों।

भावार्थ—हमारे जीवन में यज्ञ हो। विज्ञान के साथ स्तुति हो। प्राणशक्ति के साथ ब्रह्मवर्चस् हो। प्राणशक्ति की वृद्धि के साथ हमारे जीवन में वह स्तुति हो जो हमारी वृद्धि का कारण बने।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—भुरिगतिशक्वरी। **स्वरः**—पञ्चमः॥

'गायत्र-त्रैष्टुभ' छन्द

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
आददे गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वत्पृथिव्याः सधस्थादग्निं
पुरीष्यमङ्गिरस्वदाभर त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वत्॥९॥

१. पिछले मन्त्र के अनुसार अपना जीवन बनाने के लिए मैं **त्वा**=तुझे अर्थात् प्रत्येक पदार्थ को **सवितुः देवस्य**=सर्वोत्पादक दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु की **प्रसवे**=अनुज्ञा में **आददे**=ग्रहण करता हूँ। न अतिमात्रा न अ-मात्रा में, अपितु यथोचित मात्रा में। २. **अश्विनोः बाहुभ्याम्**=प्राणापान के प्रयत्न से मैं तेरा ग्रहण करता हूँ, अर्थात् बिना श्रम के मैं किसी वस्तु को लेना पाप समझता हूँ। ३. **पूष्णो हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से मैं तेरा ग्रहण करता हूँ, अर्थात् पोषण के दृष्टिकोण से ही मैं प्रत्येक वस्तु का स्वीकार करता हूँ। वस्तुओं के ग्रहण में 'उपयोगिता' न कि 'स्वाद व सौन्दर्य' मेरा मापक है, इसीलिए तो भोगों का शिकार नहीं होता। ४. **गायत्रेण छन्दसा**=(गयाः प्राणाः, त्र रक्षण) प्राण-रक्षण की इच्छा से **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति मैं इस संसार में चलता हूँ। जो व्यक्ति इन भौतिक वस्तुओं की कामना 'प्राणरक्षण की उपयोगिता' के विचार से करता है वह '**अङ्गिरस्**'=रसमय अङ्गोंवाला, अर्थात् सदा लोच और लचक से युक्त अङ्गोंवाला बना रहता है—उसका शरीर

सूखे काठ की तरह नहीं हो जाता। प्रभु कहते हैं कि **पृथिव्याः**=इस पृथिवी के **सधस्थात्**=(सहस्थानात्) मिलकर बैठने के स्थान से **पुरीष्यम्**=(**यः सुखं पृणाति स पुरीषः तत्र साधुम्**–द०) जीवन को सुखी बनानेवाले **अग्निम्**=अग्नि को **आभर**=तू हव्यद्रव्यों से आभृत कर **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरा की भाँति तू नियमितरूप से अग्निहोत्र करनेवाला बन। अग्निहोत्र करनेवाला व्यक्ति नीरोग बनकर बड़े सुखी जीवनवाला होता है। उसके शरीर के सब अङ्ग नीरोगता के कारण रसमय बने रहते हैं। ५. **त्रैष्टुभेन छन्दसा**=अब तू 'काम, क्रोध व लोभ' तीनों को रोकने की इच्छा से **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस की भाँति बनने का प्रयत्न कर। ६. अङ्गिरा बनने के लिए 'गायत्र' व त्रैष्टुभ' छन्द साधन रूप हैं। प्राणशक्ति की रक्षा की प्रबल कामना हममें हो तथा काम-क्रोध-लोभ को रोकने के लिए हमें प्रयत्नशील होना चाहिए।

भावार्थ—मैं संसार में प्रभु की अनुज्ञा के अनुसार, यत्नपूर्वक, पोषण के दृष्टिकोण से वस्तुओं का ग्रहण करूँ। 'प्राणशक्ति की रक्षा व काम-क्रोध-लोभ के वेग को रोकना' मेरे जीवन का ध्येय हो। मैं 'अङ्गिरस' बनूँ। अङ्गिरस् की भाँति अग्निहोत्र करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—भुरिगनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

'जागत' छन्द

अभ्रिरसि नार्यसि त्वया वयमग्निꣳशकेम खनितुꣳसधस्थ आ।
जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥१०॥

१. श० ६।४।१।५ में 'वाग्वा अभ्रिः' (अभ्रति गच्छति मलं यस्मात्) इन शब्दों में वेदवाणी को 'अभ्रि' कहा है। इस वेदवाणी के द्वारा हमारे सब मल दूर होते हैं, अतः **अभ्रिः असि**=तू अभ्रि है। इन ज्ञान की वाणियों से हमारा जीवन पवित्र होता है। २. **नारी असि**=जीवन को पवित्र करके तू नरहित को सिद्ध करनेवाली है। ३. **त्वया**=तेरे द्वारा **वयम्**=हम **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु को **खनितुं शकेम**=खोदने में समर्थ हों। **खन्**=excavate, cave में से—गुहा में से—बाहर ला सकें। वे प्रभु 'गुहाहितं'-गह्वरेष्ठम्' हैं। हम एक-एक कोश को अलग करते हुए उस प्रभु तक पहुँच सकें। ४. **जागतेन छन्दसा**=लोकहित की प्रबल कामना से **सधस्थे**=मिलकर एक स्थान पर बैठने की इस जगह पर, अर्थात् यज्ञवेदी पर **आ**=एकत्र होकर हम **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बनें। यह अग्निहोत्र, वायुमण्डल की शुद्धि के द्वारा नीरोगता को उत्पन्न करके लोकहित का साधक होता है।

भावार्थ—हम हृदयरूप गुहा में स्थित प्रभु का दर्शन करने का प्रयत्न करें। उस कार्य में यह वेदवाणी हमारी सहायिका होगी। यह हमारे सब मलों को दूर करती है। शुद्ध हृदय में प्रभु का प्रकाश होता है। लोकहित के दृष्टिकोण से हम अग्निहोत्र को अपनाएँ। यह वायु-शुद्धि द्वारा नीरोगता को उत्पन्न कर जगती का कल्याण करता है।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

'आनुष्टुभ' छन्द

हस्तऽआधाय सविता बिभ्रदभ्रिꣳहिरण्ययीम्।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्याऽअध्याभरदानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥११॥

१. **सविता**=अपने में ज्ञानैश्वर्य उत्पन्न करनेवाला 'सविता' गत मन्त्र में वर्णित वेदवाणी

को **हस्ते आधाय**=हाथ में धारण करके, (on the tip of his fingers), अर्थात् वेद-ज्ञान को आत्मसात् (assimilate) करके इस **हिरण्ययीम्**=ज्योतिर्मयी-ज्ञान के प्रकाश से परिपूर्ण **अभ्रिम्**=मलों के दूर करनेवाली (अभ्रति गच्छति मलं यस्मात्) वेदवाणी को **बिभ्रत्**=धारण करता हुआ **अग्नेः ज्योतिः**=उस अग्रेणी प्रभु के प्रकाश को **निचाय्य**=निश्चय से प्राप्त करके **पृथिव्याः अधि आभरत्**=अपने को पृथिवी से ऊपर उठाता है, अर्थात् सविता (क) वेदवाणी को अपनाता है। (ख) उसके ज्योतिर्मय ज्ञान को धारण करता है। (ग) प्रभु के प्रकाश को देखता है। (घ) और परिणामतः उस प्रभु-दर्शन के सुख की तुलना में उसके लिए सब पार्थिव भोग अत्यन्त तुच्छ हो जाते हैं। २. अब यह **आनुष्टुभेन**=अनुक्षण उस प्रभु के स्तवन की **छन्दसा**=इच्छा से **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बन जाता है। वस्तुतः जिस व्यक्ति का जीवन सतत प्रभु स्मरणवाला हो जाता है उसका जीवन कभी भी इन प्राकृतिक विषयों से बद्ध नहीं होता, वह कभी भी भोगों का शिकार नहीं होता। परिणामतः उसके जीवन में उसके अङ्ग कभी नीरस नहीं होते।

भावार्थ—हम वेदवाणी का स्मरण करें। उसकी ज्ञान-ज्योति को देखें। प्रभु के प्रकाश का अनुभव करें। प्रतिक्षण प्रभु-स्मरण से जीवन को सरस बनाएँ।

सूचना—मन्त्र ९ से ११ तक क्रमशः 'गायत्र, त्रैष्टुभ, जागत व आनुष्टुभ' छन्दों का उल्लेख है। सामान्यतः ब्रह्मचारी को 'गायत्र' छन्दवाला होना है, वीर्यरक्षा द्वारा अपनी प्राणशक्ति का उचित पोषण करना उसका कर्त्तव्य है। गृहस्थ में प्रवेश करते समय 'त्रैष्टुभ' छन्द का पोषण करना है कि मुझे 'काम, क्रोध व लोभ' को रोकना है। वनस्थ होकर उसका छन्द 'जागत' हो गया है—जगती के हित के लिए वह अपने को साधना में चला रहा है और अन्त में संन्यस्त होकर वह आनुष्टुभ छन्दवाला हुआ है, यह अनुक्षण प्रभु का स्मरण करता हुआ जीवन-यात्रा को पूर्ण कर रहा है।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। **देवता**—वाजी। **छन्दः**—आस्तारपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

सर्वोत्तम संविभाग

प्रतूर्तं वाजिन्नाद्रव वरिष्ठामनु संवतम्।
दिवि ते जन्म परममन्तरिक्षे तव नाभिः पृथिव्यामधि योनिरित्॥१२॥

१. गत मन्त्र का आनुष्टुभ छन्द को अपनानेवाला, निरन्तर प्रभु-स्मरण करनेवाला 'सविता' सदा प्रभु के समीप रहने से 'नाभानेदिष्ठ' बना है—केन्द्र के समीप रहनेवाला। प्रभु संसार की नाभि-केन्द्र हैं, यह सदा प्रभु का उपासक रहता है। प्रभु की शक्ति से यह शक्ति-सम्पन्न बनता है और वाज=शक्तिवाला होने से 'वाजिन्' शब्द से यहाँ सम्बोधित हुआ है। हे **वाजिन्**=शक्तिशालीन् उपासक! **प्रतूर्तम्**=शीघ्रता से, आलस्य-शून्यता से **आद्रव**=समन्तात् गतिवाला हो—अपने सब कर्त्तव्यों को करनेवाला बन। २. तू अपने कर्त्तव्यों को **वरिष्ठां संवतं अनु (सम् वन् क्विप्)**=उत्कृष्ट सम्भजन—संविभाग के अनुसार करनेवाला हो। तू किसी एक ही कर्त्तव्य में न उलझ जा। यह उत्कृष्ट सम्भजन व संविभाग यह है कि—३. (क) **दिवि**=द्युलोक में, मस्तिष्क में **ते**=तेरा **परमम्**=सर्वोत्कृष्ट **जन्म**=प्रादुर्भाव व विकास हो, अर्थात् तू अपने ज्ञान को अधिक-से-अधिक ऊँचाई तक ले-जाने का प्रयत्न कर। ज्ञान-प्राप्ति में तू सन्तोष करके कभी बैठ न जा। (ख) **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में **तव**=तेरा **नाभिः**=बन्धन हो (नह बन्धने)। मन 'हृत् प्रतिष्ठ' है—तू अपने मन को हृदय में स्थिर

करने का प्रयत्न कर। अथवा **अन्तरिक्षे**=(अन्तरा क्षि) मध्यमार्ग में **तव**=तेरा **नाभिः** =बन्धन हो, अर्थात् तू सदा मध्यमार्ग में चलनेवाला बन। (ग) **इत्**=निश्चय से **योनिः**=तेरा घर **पृथिव्याम् अधि**=पृथिवी के ऊपर हो, तू अपने इस पार्थिव शरीर के अन्दर ही रहनेवाला हो–'स्वस्थ' हो। अथवा निश्चय से तेरा यह स्वस्थ शरीर तेरी सब उन्नतियों का कारण बने। 'धर्मार्थकाममोक्ष' सभी पुरुषार्थों का मूल यह आरोग्य ही तो है। एवं, तू ज्ञान से अपने मस्तिष्क को उज्ज्वल बना, सदा मध्यमार्ग पर चलते हुए अपने मन को वासनाओं से बचा और आरोग्य को सब उन्नतियों का मूल जानते हुए शरीर को स्वस्थ रखने के लिए यत्नशील हो। इस प्रकार तेरा प्रयत्न मस्तिष्क, मन व शरीर तीनों के लिए संविभक्त हो। ४. एवं, नाभानेदिष्ठ अपने प्रयत्न को उचित संविभागपूर्वक विनियुक्त करता हुआ अपने उपास्य प्रभु की भाँति ही त्रि-विक्रम बनता है। उसका पुरुषार्थ शरीर, मन व बुद्धि तीनों के लिए होता है।

भावार्थ–हमारे जीवन का केन्द्र प्रभु हों। उस केन्द्र से ज्ञान, नैर्मल्य व स्वास्थ्य की रश्मियों का प्रसार हो।

ऋषिः–कुश्रिः। **देवता**–वाजी। **छन्दः**–गायत्री। **स्वरः**–षड्जः॥

रासभ-योग

युञ्जाथाꣳरासभं युवमस्मिन् यामे वृषण्वसू। अग्निं भरन्तमस्मयुम् ॥१३॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार जो पति-पत्नी प्रभु को अपने जीवन का केन्द्र बनाते हैं वे **वृषण्वसू**=शक्तिशाली अथवा सुखों के वर्षक प्रभुरूप धनवाले होते हैं। इन पति-पत्नी से कहते हैं कि–२. **युवम्**=तुम दोनों **अस्मिन् यामे**=इस जीवन-मार्ग में **रासभम्**=(रास् शब्दे) हृदयस्थ होकर सदा ज्ञान के शब्दों का उच्चारण करनेवाले उस प्रभु को **युञ्जाथाम्**=अपने साथ युक्त करने का प्रयत्न करो। तुम्हारा मन उस प्रभु में लगे और तुम उस प्रभु की वाणी को सुनने के लिए यत्नशील होओ। ३. वे प्रभु **अग्निं भरन्तम्**=हमारे अन्दर अग्नि का भरण करनेवाले हैं–हमारे जीवन में उत्साह का सञ्चार करनेवाले हैं और **अस्मयुम्**=**(अस्मान् कामयमानम्**–उ०) सदा हमारा हित चाहनेवाले हैं, अतः प्रभु की वाणी को सुनने से अवश्य हमारा भला ही होगा और हमें जीवन में कभी निराशा न होगी। हम सदा सोत्साह बने रहेंगे। ३ वे प्रभु प्रस्तुत मन्त्र में 'रासभ' कहे गये हैं–वे (रास् शब्दे) हृदयस्थरूपेण सब विद्याओं का उपदेश देते रहते हैं। इन विद्याओं का उपदेश देने से ही वे 'कु' (**कौति सर्वा विद्याः**) कवि हैं। उनकी (श्रि सेवायाम्) उपासना करने से प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'कु-श्रि' है। यह इस '**कु**'=कवि की काव्यमय वाणियों में उत्साह व हित देखता है। उसी का उपासन, मनन करता है।

भावार्थ–हम अपनी जीवन-यात्रा में प्रभु को अपने से युक्त करके चलें। उस प्रभु की वाणियाँ हमारे जीवन में अग्नि=उष्णता व उत्साह का सञ्चार करेंगी।

ऋषिः–शुनःशेपः। **देवता**–क्षत्रपतिः। **छन्दः**–गायत्री। **स्वरः**–षड्जः॥

तवस्तर

योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमूतये ॥१४॥

१. गत मन्त्र में अपने जीवन-मार्ग में प्रभु को युक्त करने का उपदेश था। उसी प्रसङ्ग में कहते हैं कि **योगेयोगे**=जब-जब हम प्रभु से अपना योग करते हैं तब वे प्रभु **तवस्तरम्**=(तवस्=बल) हमारे बल को अधिक और अधिक बढ़ाते हैं। पिछले मन्त्र में प्रभु

से मेल करनेवाले पति-पत्नी को '**वृषण्वसू**' कहा था—शक्तिशाली, प्रभुरूप धनवाले। प्रभु को अपना धन बनाकर वे वाजी=शक्तिशाली बने थे। उस १३वें मन्त्र का विषय (देवता) यह 'वाजी' ही था। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि '**शुनःशेप**'=सुख का निर्माण करनेवाला है। शक्तिशाली का ही जीवन सुखी होता है। यह 'शुनःशेप' भी प्रभु के योग के कारण 'क्षत्रपति' है, बल का स्वामी है। यही प्रस्तुत मन्त्र का देवता=विषय है। २. **वाजे-वाजे**=प्रत्येक संग्राम में **हवामहे**=हम उस प्रभु को पुकारते हैं। वस्तुतः उस प्रभु ने ही विजय करानी है। हमारी शक्ति विजय करने की नहीं। हमारा रथ प्रभु से अधिष्ठित होता है तो विजयी होता है अन्यथा इसके लिए पराजय-ही-पराजय है। ३. **सखायः**=अतः हम उस प्रभु के सखा बनने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। वे प्रभु हमारे '**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**'=सयुज् सखा हैं—कभी साथ न छोड़नेवाले मित्र हैं। ४. **इन्द्रम्**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु को **ऊतये**=रक्षा के लिए हम अपने साथ युक्त करते हैं। प्रभु से युक्त होने पर इस प्रभु के नाम-श्रवण से ही शत्रुओं के सेनापति काम का संहार हो जाता है। सब शत्रुओं का विजय करके हम अपने जीवन को बड़ा सुखी बना पाते हैं और प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'शुनःशेप' होते हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना हमें शक्तिशाली बनाती है। शत्रुओं के साथ संग्राम में हमें विजयी करती है। हमारा जीवन सुखमय होता है।

ऋषिः—शुनःशेपः। **देवता**—गणपतिः। **छन्दः**—आर्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

गणपतित्व

प्रतूर्वन्नेह्यवक्रामन्नशस्ती रुद्रस्य गाणपत्यं मयोभूरेहि।
उर्वन्तरिक्षं वीहि स्वस्तिगव्यूतिरभयानि कृण्वन् पूष्णा सयुजा सह ॥१५॥

१. पिछले मन्त्र के अनुसार प्रत्येक संग्राम के अवसर पर प्रभु को पुकारते हुए **अशस्तीः**=सब अशुभ—अशंसनीय बातों को **अवक्रामन्** (क्रमु पादविक्षेपे)=पाँवो तले कुचलते हुए **प्रतूर्वन्**=आसुरवृत्तियों को प्रकर्षेण हिंसित करते हुए **एहि**=तू गति कर। मनुष्य के लिए यही उचित है कि अशुभ कर्मों को कुचल डाले। २. इस प्रकार करता हुआ **मयोभूः**=कल्याण का भावन करनेवाला तू **रुद्रस्य**=(रुत्+र) ज्ञान का उपदेश देनेवाले रुद्र के **गाणपत्यम्**=गणपतित्व को **एहि**=प्राप्त हो। जो भी व्यक्ति अशुभ बातों को अपने जीवन में नहीं आने देते और परिणामतः कल्याण का भावन करते हैं वे प्रभु के गण कहलाते हैं, इस गण के मुख्य स्थान में होना ही 'गाणपत्य' की प्राप्ति है। ३. इस गाणपत्य से प्रभु कहते हैं कि **उरु अन्तरिक्षं वीहि**=तू विशाल हृदयान्तरिक्ष को प्राप्त कर। तेरा हृदय विशाल हो। तू संकुचित हृदय न बन। ४. **स्वस्तिगव्यूतिः**=कल्याण के मार्गवाला हो (गव्यूतिः=मार्गः)। तू कभी अशुभ मार्ग पर चलनेवाला न हो। तेरे इन्द्रियरूप घोड़ों की चरागाह कल्याण-ही-कल्याण को देनेवाली हो। तेरी इन्द्रियाँ अशुभ मार्ग पर जानेवाली न हों। ५. अशुभ मार्ग पर न जाकर **अभयानि कृण्वन्**=तू अपने जीवन को निर्भय बनानेवाला हो। पाप में ही तो भय है। न पाप हो, न भय हो। ६. **सयुजा पूष्णा सह**=तू सदा अपने साथ रहनेवाले मित्र और पोषण करनेवाले प्रभु के साथ रहनेवाला बन। प्रभु के साथ रहना ही निर्भयता का मार्ग है।

भावार्थ—हम अशुभ का विनाश करें। उस रुद्र के गण के पति बनें। विशाल हृदयवाले, शुभ-मार्गवाले, निर्भय तथा सदा प्रभु के सयुज् सखा बनें।

ऋषिः—शुनःशेपः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

अग्नि=अग्निहोत्र की ओर

पृथिव्याः सधस्थाद्ग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदाभराग्निं
पुरीष्यमङ्गिरस्वदच्छेमोऽग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्धरिष्यामः॥१६॥

१. पिछले मन्त्र में 'पूष्णा सयुजा सह' इन शब्दों में सदा प्रभु के उपासन का प्रतिपादन था। प्रस्तुत मन्त्र में 'अग्निहोत्र' का प्रतिपादन करते हैं। 'शुनःशेप' के लिए—जीवन को सुखी बनाने की इच्छावाले के लिए—'सन्ध्या व अग्निहोत्र' दोनों ही आवश्यक हैं। २. प्रभु कहते हैं कि **पृथिव्याः सधस्थात्**=पृथिवी के इस सधस्थ से—मिलकर बैठने के स्थान से **पुरीष्यम्**=(पुरीषम्=उदकं तत्र साधुः) वृष्टिरूप जल को देने में उत्तम अथवा (पृणाति सुखं, तत्र साधुः) नीरोगता के द्वारा सुख देनवालों में उत्तम **अग्निम्**=इस यज्ञ की अग्नि को **आभर**=धारण कर। घर का सबसे पहला कमरा 'हविर्धानम्'=अग्निहोत्र के लिए ही तो बनाना है। उस कमरे में अग्निहोत्र के समय घर के सभी व्यक्ति मिलकर बैठें। यह स्थान 'सधस्थ' समझा जाए। ३. प्रभु की इस वाणी को सुनकर 'शुनःशेप' कहता है कि हम **पुरीष्यम्**=सुखों का पूरण करनेवाली, वृष्टिजल की कारणभूत **अग्निं अच्छ**=अग्नि की ओर **इमः**=आते हैं, उसी प्रकार '**अङ्गिरस्वत्**' जैसेकि अङ्गिरस् लोग जाते हैं। इस अग्निहोत्र को नियम से करनेवाले लोग नीरोग और अतएव अङ्गिरस् बनते हैं। इनके अङ्ग सदा जीवन-रस से परिपूर्ण बने रहते हैं। ४. शुनःशेप का निश्चय है कि हम **अङ्गिरस्वत्**=इन अङ्गिरस् लोगों की भाँति **पुरीष्यं अग्निम्**=सुखों की पूरक इस अग्नि को **भरिष्यामः**=भविष्य में भी सदा अग्निकुण्ड में धारण करनेवाले बनेंगे। ५. **'सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनसस्य दाता'**—अ० १९।५५।३ **'प्रातःप्रातः गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता'**—अ० १९।५५।४। अर्थात् प्रत्येक सायंकाल प्रबुद्ध किया हुआ हमारे घरों का रक्षक यह अग्नि प्रातः तक शुभ चित्त का देनेवाला होता है और प्रत्येक प्रातःकाल प्रबुद्ध किया हुआ यह गृहपति अग्नि सायं तक शुभ चित्तवृत्ति का देनेवाला होता है। एवं, यह अग्निहोत्र सचमुच हमारे जीवन को सुखी बनाता है और हम शुनःशेप बनते हैं।

भावार्थ—हम अग्निहोत्र को सदा अपने घरों का पति बनाएँगे, जिससे हमारी मनोवृत्तियाँ शुभ बनी रहें और हम सुखी जीवनवाले हों।

ऋषिः—पुरोधाः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

'पुरोधाः' का दैनिक कार्यक्रम

अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः।
अनु सूर्यस्य पुरुत्रा च रश्मीननु द्यावापृथिवीऽआततन्थ॥१७॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'पुरोधाः' है, जो औरों से पहले अपना धारण करता है। 'यह अपने को अग्रभाग में कैसे स्थापित कर पाया है', इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में देते हैं कि १. यह **अग्निः**=निरन्तर अपने को आगे और आगे प्राप्त करानेवाला व्यक्ति **उषसाम् अग्रम् अनु**=उषा के अग्रभागों के साथ-साथ, अर्थात् प्रत्येक उषाकाल के प्रारम्भ में **अख्यत्**=उस प्रभु के गुणों का प्रकथन करता है। (ख्या प्रकथने)। इसका दैनिक कार्यक्रम प्रभु-गुण स्मरण से प्रारम्भ होता है। २. **अहानि अनु**=प्रत्येक दिन के साथ, अर्थात् प्रतिदिन यह **प्रथमः**=(प्रथ विस्तारे) अपनी शक्तियों का विस्तार करता है, शक्ति-विस्तार के लिए

यह प्रतिदिन के व्यायाम आदि को नियम से करता है। ३. **जातवेदाः**=प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। नैत्यिक स्वाध्याय से यह अपने ज्ञान को बढ़ाता चलता है। एवं, प्रभु-स्तवन, व्यायामादि व स्वाध्याय तो यह सूर्योदय से पहले ही कर लेता है **च**=और ४. **सूर्यस्य रश्मीन् अनु**=सूर्य की रश्मियों के ख़ूब फैलने के साथ **पुरुत्रा**=यह बहुत ही स्थानों पर जाता है। जीविकोपार्जन के लिए यह विविध स्थानों पर आता-जाता है, परन्तु यह ध्यान रखता कि कहीं इसके मस्तिष्क व शरीर पर अवाञ्छनीय प्रभाव न हो जाए। ५. जीविकोपार्जन के अपने प्रयत्नों को यह **आततन्थ**=विस्तृत तो करता है, परन्तु **द्यावापृथिवी अनु**=अपने मस्तिष्क व शरीर के स्वास्थ्य का ध्यान करते हुए। इनके स्वास्थ्य के साथ-साथ यह धनार्जन करने का विचार करता है। कार्य को इतना नहीं फैला देता कि उसके न सँभलने से वह इसकी सिरदर्दी का ही कारण बन जाए।

भावार्थ—१. उषा के प्रारम्भ से पहले ही उठकर यह प्रभु-कीर्तन करता है। २. उचित व्यायाम करता है। ३. प्रभु के बनाये पदार्थों की रचना का ज्ञान प्राप्त करता है जिससे इनमें प्रभु की महिमा को देखे और इन पदार्थों का ठीक प्रयोग कर सके। ४. अब आजीविका के लिए कर्म में लगता है। ५. कार्य को इतना नहीं फैला लेता कि यह उसके मस्तिष्क की चिन्ताओं का कारण बन जाए और शरीर को दूषित कर दे।

ऋषिः—मयोभूः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

'मयोभू' के तीन कार्य

आगत्य वाज्यध्वानꣳसर्वा मृधो विधूनुते।
अग्निꣳसधस्थे महति चक्षुषा निचिकीषते॥१८॥

१. गत मन्त्र के अनुसार दैनिक कार्यक्रम को चलानेवाला व्यक्ति शक्तिशाली बनता है। यह **वाजी**=शक्तिशाली व्यक्ति **अध्वानम् आगत्य**=मार्ग पर आकर २. **सर्वाः मृधः**=सब हिंसकों को, कार्य के विघ्नों को **विधूनुते**=कम्पित करके दूर कर देता है। संक्षेप में, यह मार्ग पर चलता है, कभी पथभ्रष्ट नहीं होता। यह मार्ग में आये विघ्नों को दूर करने के लिए यत्नशील होता है। इसके जीवन में कभी निराशा व निरुत्साह नहीं आ जाते। ३. मार्ग पर चलता हुआ तथा आये हुए विघ्नों को दूर करके आगे बढ़ता हुआ यह **अग्निम्**=उस अग्रेणी परमात्मा को **महति सधस्थे**=महनीय-जीवात्मा और परमात्मा के साथ ठहरने के उत्तम स्थान में, अर्थात् हृदयाकाश में **चक्षुषा**=विषयव्यावृत्त चक्षु के द्वारा, अन्तर्मुखदृष्टि के द्वारा **निचिकीषते**=(पश्यति—उ०) देखता है, अर्थात् अपनी जीवन-यात्रा में प्रभु को कभी भूलता नहीं। प्रतिदिन प्रातःसायं अन्तर्दृष्टि होकर हृदयरूप गुहा में विचरनेवाले अपने मित्र प्रभु का दर्शन करने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—मयोभूः=कल्याण का भावन करनेवाला तीन बातें करता है—१. सन्मार्ग पर चलता है। २. विघ्नों को दूर करता है। ३. अन्तर्मुख होकर हृदयस्थ प्रभु के दर्शन करता है।

ऋषिः—मयोभूः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

प्रभु-अन्वेषण (Seeking after God)

आक्रम्य वाजिन् पृथिवीमग्निमिच्छ रुचा त्वम्।
भूम्या वृत्वाय नो ब्रूहि यतः खनेम तं वयम्॥१९॥

१. हे **वाजिन्**=शक्तिशालिन्! **पृथिवीम् आक्रम्य**=इस पृथिवी पर आक्रमण करते हुए, अर्थात् सफलतापूर्वक संसार-यात्रा को चलाते हुए **त्वम्**=तू **रुचा**=दीप्ति के हेतु से **अग्निम्**=उस अग्रेणी परमात्मा को **इच्छ**=चाह, उसका अन्वेषण कर। जीव शक्तिशाली बने। शक्तिशाली बनकर गत मन्त्र के अनुसार सन्मार्ग पर चले, विघ्नों को दूर करे और इस प्रकार सफलता से इस पार्थिव संसार में जीवन-यात्रा को चलाते हुए प्रभु की खोज की वृत्तिवाला बने (seeker after God)। ऐसा बनने से जीवन दीप्त हो उठता है। पृथिवी पर सफलता से आक्रमण का अभिप्राय स्वर्ग की प्राप्ति है तो 'प्रभु के अन्वेषण की इच्छा' उस सोने पर सुहागे का काम करती है। यह स्वर्ण चमक उठता है। २. **भूम्याः**=भूमि से अर्थात् इन पार्थिव भोगों में फँस जाने की अपेक्षा **वृत्वाय**=प्रभु का वरण करके **नः ब्रूहि**=तू हमारे प्रति भी उस प्रभु का प्रवचन कर **यतः**=जिससे **वयम्**=हम भी **तम्**=उस प्रभु को **खनेम**=खोजनेवाले बनें। 'खनेम' शब्द का अर्थ खोदकर निकालना है। पर्वतों में छिपाकर रखे सोने को हम खोदकर निकालते हैं। वहाँ उपरले आवरणों को हटाना होता है, ठीक इसी प्रकार यहाँ अन्नमयादि पाँच कोशों के आवरण को हटाकर आत्मा तक पहुँचते हैं। इस आवरण के हटाने के लिए हम पार्थिव भोगों से ऊपर उठें। **'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्'** का ठीक-ठीक अर्थ यही है कि आत्म-प्राप्ति के लिए पार्थिव भोगों को छोड़ना ही होता है। जीवन तभी चमकता है। ऐहिक कल्याण सफलतापूर्वक जीवन-यात्रा को चलाने में है तो आमुष्मिक कल्याण उस प्रभु को खोजने में है। इन दोनों अभ्युदय व निःश्रेयस को मिला देना ही सच्चा धर्म है।

भावार्थ—१. हम शक्तिशाली बनकर जीवन-यात्रा को सफलता से चलाएँ २. पार्थिव भोगों में न फँसकर आत्मा का अन्वेषण करें, तभी जीवन दीप्त होगा।

ऋषिः—मयोभूः। **देवता**—क्षत्रपतिः। **छन्दः**—निचृदार्षीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

चमकता हुआ जीवन

द्यौस्ते पृष्ठं पृथिवी सधस्थमात्मान्तरिक्षꣳसमुद्रो योनिः।
विख्याय चक्षुषा त्वमभि तिष्ठ पृतन्यतः॥२०॥

१. पिछले मन्त्र में 'चमकते जीवन' का संकेत था। उसी का कुछ विस्तार से प्रतिपादन करते हैं कि **द्यौः ते पृष्ठम्**=द्युलोक=मस्तिष्क का ज्ञान ही तेरा पृष्ठ हो, आधार हो, मेरुदण्ड=(backbone) हो, अर्थात् ज्ञान तेरे जीवन का मूलाधार हो। तेरा जीवन ज्ञानमय हो। २. **पृथिवी सधस्थम्**=यह पृथिवी तेरा मिलकर रहने का स्थान हो। तू स्वयं भी रह और औरों को भी रहने दे। 'Live and let live' यह तेरे जीवन का सिद्धान्त हो। अथवा तेरा यह शरीर परमात्मा के साथ मिलकर रहने का स्थान हो। ३. **आत्मा**=मन **अन्तरिक्षम्** (**अन्तराक्षि**)=सदा मध्यमार्ग पर चलनेवाला हो। अति में न जाकर यह सदा प्रत्येक वस्तु का यथोचित प्रयोग करे। ४. **समुद्रः**=सदा आनन्द के साथ होना ही (स+मुद्र) तेरा **योनिः**=निवास-स्थान-उत्पत्ति का कारण हो, अर्थात् तेरे लिए आनन्द सहज हो जाए। ५. **चक्षुषा**=विषयव्यावृत्त अन्तर्मुखीभूत आँख से **विख्याय**=आत्मतत्त्व का दर्शन करके **त्वम्**=तू **पृतन्यतः**=संग्राम के इच्छुक इन काम, क्रोध व लोभादि के आसुर भावों को **अभितिष्ठ**=पाँवों तले रौंद डाल। परमात्मदर्शन ही वासनाओं को कुचलने का साधन है।

भावार्थ—'ज्ञान, मिलकर रहना, मध्यमार्ग में चलना, प्रसन्नता, आत्मदर्शन तथा कामादि का पराभव' ये बातें तेरे जीवन के मुख्य अङ्ग हों।

ऋषिः—मयोभूः। देवता—द्रविणोदाः। छन्दः—आर्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

महान् सौभाग्य

उत्क्रामं महते सौभगायास्मादास्थानाद् द्रविणोदा वाजिन्।
वयꣳस्याम सुमतौ पृथिव्याऽअग्निं खनन्तऽउपस्थेऽअस्याः ॥२१॥

१. **द्रविणोदाः**=धन देनेवाला अतएव **वाजिन्**=शक्तिशालिन्! (धन का त्याग करनेवाला व्यक्ति व्यसनों में नहीं फँसता, अतः शक्तिशाली बना रहता है) तू **अस्मात्**=इस **आस्थानात्**=सबके मिलकर बैठने के स्थान से **महते सौभगाय**=महान् सौभाग्य के लिए **उत्क्राम**=ऊपर उठनेवाला बन। इन शब्दों से ये बातें स्पष्ट हैं—(क) यह पृथिवी हमारा 'आस्थान'—मिलकर रहने की जगह होनी चाहिए। (ख) यहाँ रहते हुए हम कमाएँ, परन्तु खूब देनेवाले हों (**द्रविणोदाः**)। (ग) धन का त्याग ही व्यसनों से बचाकर हमें शक्तिशाली बनाता है (**वाजिन्**)। (घ) हमारे जीवन का ध्येय पृथिवी से ऊपर उठना हो (उत्क्राम)। पार्थिव भोगों से ऊपर उठकर ही हम 'महान् सौभाग्य' को प्राप्त कर सकते हैं। २. **वयं सुमतौ स्याम**=हम सदा कल्याणी मति में बने रहें। हमारे विचार सदा शुभ रहें। **अस्याः पृथिव्याः उपस्थे**=इस पृथिवी की गोद में रहते हुए, अर्थात् इस पार्थिव जीवन को व्यतीत करते हुए हम **अग्निम्**=उस प्रकाश के स्रोत प्रभु को **खनन्तः**=खोजते हुए अपना जीवन व्यतीत करें। साधना एवं चिन्तन के द्वारा अन्नमयादि कोशों से ऊपर उठते हुए हम हृदयरूप गुहा में स्थित प्रभु को पाने के लिए प्रयत्नशील हों। जिस दिन हम प्रभु का दर्शन कर रहे होंगे वह दिन हमारे महान् सौभाग्य का दिन होगा। इस महान् सौभाग्य की प्राप्ति के लिए हमें निरन्तर ऊपर उठना है। ऊपर उठते हुए वैषयिक संसार से परे पहुँचना है, तभी तो प्रभु से मेल होगा।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन ही महान् सौभाग्य है। उसके लिए हमें वैषयिक जगत् से परे पहुँचना है, अतः हमारी वृत्ति धन के त्यागवाली हो और हम शक्तिशाली हों।

ऋषिः—मयोभूः। देवता—द्रविणोदाः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

स्वर् आरोहण

उदक्रमीद् द्रविणोदा वाज्यर्वाकः सुलोकꣳसुकृतं पृथिव्याम्।
ततः खनेम सुप्रतीकमग्निꣳस्वो रुहाणाऽअधि नाकमुत्तमम् ॥२२॥

१. **द्रविणोदाः**=धन का दान करनेवाला **वाजी**=शक्तिशाली पुरुष **उदक्रमीत्**=विषयों से ऊपर उठता है। २. यह **अर्वा**=(अर्व हिंसायाम्) विषय-वासनाओं की हिंसा करनेवाला—भोगवृत्ति से ऊपर उठा हुआ व्यक्ति **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर **सुकृतम्**=पुण्यों से निर्मित **सुलोकम्**=उत्तम लोक को **अकः**=निर्मित करता है, अर्थात् धन के त्याग द्वारा वैषयिकवृत्ति से ऊपर उठकर यह शक्तिशाली बनता है, पुण्य की प्रवृत्तिवाला होकर उत्तम लोक का निर्माण करता है। २. **ततः**=इस प्रकार उत्तम जीवन बनाकर हम **उत्तमम्**=अत्यन्त उत्कृष्ट **नाकम्**=(**न अकं यस्मिन्**) दुःख से शून्य **स्वः**=स्वर्गलोक में **अधिरुहाणाः**=आरोहण करते हुए **सुप्रतीकम्**=शोभन मुखवाले=अत्यन्त तेजस्वी **अग्निम्**=अग्रेणी प्रभु को **खनेम**=खोजने में समर्थ हों। जब हम जीवन को उत्तम बनाते हैं तब हमारा जीवन सुखमय होता है, अभ्युदय-सम्पन्न होता है तथा हम प्रभु को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं—निःश्रेयस को सिद्ध

कर पाते हैं। ३. एवं, 'मयोभूः' का जीवन सामान्यरूप से 'विषय-वासनाओं में न फँसकर प्रभु की खोजनेवाला' है। वस्तुतः 'ऐहिक जीवन का सुख' विषय-वासनाओं में न फँसने में ही है और 'आमुष्मिक कल्याण' प्रभु के अन्वेषण में है। यह 'मयोभूः' इस प्रभु का स्तवन करता है, अतएव 'गृत्स' (**गृणाति इति**) कहलाता है और सदा प्रसन्न रहता है (**माद्यति**) अतः 'मद' कहलाता है। यह 'मयोभूः' गृत्समद बनकर कहता है कि—'**आ त्वा जिघर्मि**'=हे प्रभो! मैं तो आपको ही अपने में दीप्त करने का प्रयत्न करता हूँ।

भावार्थ—जीवन को सुखी बनाने का मार्ग यही है कि हम (क) धन का दान करें। (ख) वैषयिकवृत्ति से ऊपर उठें। (ग) पुण्यवाले उत्तम लोक का निर्माण करें। (घ) घर को स्वर्ग बनाते हुए प्रभु-दर्शन के लिए प्रयत्नशील हों।

ऋषिः—गृत्समदः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

देश-काल से अनविच्छिन्न प्रभु

आ त्वा जिघर्मि मनसा घृतेन प्रतिक्षियन्तं भुवनानि विश्वा।
पृथुं तिरश्चा वयसा बृहन्तं व्यचिष्ठमन्नै रभसं दृशानम्॥२३॥

१. गृत्समद प्रभु का स्तवन करते हुए कहता है कि—हे प्रभो! मैं तो **आ**=सब प्रकार से **त्वा**=आपको ही **जिघर्मि**=दीप्त करता हूँ। आपका ही प्रकाश देखने के लिए यत्नशील होता हूँ। २. इस आपके प्रकाश को मैं चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों से तो देख ही नहीं पाता। आपका वह प्रकाश इन इन्द्रियों का विषय नहीं, इसी से आप अतीन्द्रिय हो। मैं आपके प्रकाश को **मनसा**=मन से देखता हूँ, परन्तु कौन-से मन से? **घृतेन** =(घृ क्षरणदीप्त्योः) उस मन से जिसके सब मलों का क्षरण करके ज्ञान की दीप्ति से दीप्त करने का प्रयत्न किया गया है। ३. मैं उस आपको देखता हूँ जो आप **विश्वा भुवनानि**=सब भुवनों में **प्रतिक्षियन्तम्**=निवास कर रहे हैं। प्रभु सर्वव्यापक हैं, परन्तु उन्हें देखना तो हमें अपने हृदयों में ही है। ४. वे प्रभु **तिरश्च पृथुम्**=यह ब्रह्माण्ड एक सिरे से दूसरे सिरे तक जितना विस्तृत है, उससे अधिक विस्तृत हैं (प्रथ विस्तारे), अर्थात् प्रभु अधिक-से-अधिक विस्तृत देश से भी अविच्छिन्न नहीं हो सकते। यह सारा ब्रह्माण्ड तो उनके एक देश में ही है। ५. **वयसा** =(वय् गतौ) निरन्तर गतिवाले इस काल से भी वे **बृहन्तम्**=बड़े हैं। काल भी उन्हें सीमित नहीं कर सकता। ६. देश-काल से अनविच्छिन्न (असीमित) वे प्रभु **व्यचिष्ठम्**=अत्यन्त विस्तारवाले हैं (**व्यवस्**=expanse, wastness)। ७. **अन्नैः**=विविध अन्नों से **रभसम्**=वे प्रभु हमें शक्ति (strength) देनेवाले हैं। अथवा अन्नों से वे हमें (रभस=joy) आनन्दित करनेवाले हैं। ८. **दृशानम्**=वे प्रभु हमें तत्त्व का दर्शन करानेवाले हैं। अन्नों से वे हमारे शरीरों को सशक्त करते हैं तो तत्त्व-ज्ञान से हमारे मस्तिष्कों को दीप्त बनाते हैं।

भावार्थ—वे सर्वव्यापी प्रभु पवित्र मन से दिखते हैं। वे देश व काल से सीमित नहीं हैं। अत्यन्त विस्तारवाले वे प्रभु अन्नों से हमें शक्ति देते हैं और तत्त्व-दर्शन से मस्तिष्क को उज्ज्वल करते हैं।

ऋषिः—गृत्समदः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

अरक्षसा मनसा

आ विश्वतः प्रत्यञ्चं जिघर्म्यरक्षसा मनसा तज्जुषेत।
मर्यश्री स्पृहयद्वर्णोऽअग्निर्नाभिमृशे तन्वा जर्भुराणः॥२४॥

१. गृत्समद का ही स्तवन चल रहा है कि **आ**=सब प्रकार से **विश्वतः प्रत्यञ्चम्**=सब ओर गये हुए, अर्थात् सर्वव्यापक प्रभु को **जिघर्मि**=मैं अपने अन्दर दीप्त करता हूँ। २. मनुष्य को चाहिए कि **अरक्षसा मनसा**=राक्षसी व आसुरी भावनाओं से रहित पवित्र मन से **तत्**=उस ब्रह्म का **जुषेत**=प्रीतिपूर्वक सेवन करे। प्रतिदिन आदर-श्रद्धा के साथ उस प्रभु का चिन्तन करने से ही तो हम उस प्रभु के प्रकाश को देख पाएँगे। ३. जिस दिन मैं प्रभु के प्रकाश को देखनेवाला बनता हूँ, उस दिन **मर्यश्रीः**=मनुष्यों में शोभावाला बनता हूँ या दुःखी पुरुषों से आश्रयणीय होता हूँ। प्रभु के तेज को प्राप्त करके मैं तेजस्वी बनता हूँ और श्रीसम्पन्न होता हूँ। साथ ही (श्रि=सेवायाम्) सब पीड़ित पुरुष अपनी पीड़ा के निराकरण के लिए मेरे समीप पहुँचते हैं। ४. **स्पृहयद्वर्णः**=मैं स्पृहणीय वर्णवाला होता हूँ, अन्दर दीप्त होती हुई प्रभु की ज्योति मेरे चेहरे पर भी प्रतिबिम्बित होती है। ५. **अग्निः न**=अग्नि के समान **अभिमृशे**=(मृश् to rule, strike) मैं शत्रुओं को कुचल देता हूँ। अग्नि के तेज में जैसे सब मल भस्म हो जाते हैं, इसी प्रकार प्रभु के तेज से तेजस्वी होने पर मेरे भी राग-द्वेष के सब मल भस्मीभूत हो जाते हैं। ६. और मैं **तन्वा**=अपने इस शरीर से **जर्भुराणः**=निरन्तर भरण-पोषण करनेवाला बनता हूँ। मेरा यह शरीर लोकहित के कार्यों में विनियुक्त होता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासन पवित्र मन से होता है। एक सच्चा उपासक लोगों में शोभावाला होता है, उसके चेहरे पर अन्तःस्थित प्रभु का प्रकाश चमकता है, जिसके तेज में सब मल भस्म हो जाते हैं। वह अपने शरीर को प्राजापत्य यज्ञ में आहुत कर देता है।

ऋषिः—सोमकः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

वाजपतिः कविः

परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत्। दधद्रत्नानि दाशुषे॥२५॥

१. पिछले मन्त्र का गृत्समद ऋषि प्रभु-स्तवन करता हुआ शक्तिशाली बनता है, परन्तु उस सब शक्ति का पति प्रभु को समझता हुआ वह अत्यन्त विनीत बना रहता है। इस विनीतता के कारण वह 'सोमक' कहलाता है (सौम्य=विनीत)। यह सोमक कहता है कि—२. वह **वाजपतिः**=सब अन्नों व शक्तियों का स्वामी प्रभु **कविः**=क्रान्तदर्शी है, तत्त्व का ज्ञान रखनेवाला है। वह प्रभु ही वस्तुतः अपने भक्तों को अन्नों से शक्तिशाली बनाता है और तत्त्व-ज्ञान देता है। ३. इस प्रकार वे प्रभु **अग्निः**=हमें आगे और आगे ले-चलनेवाले हैं, हमारी सब उन्नतियों के कारण हैं। ४. वे प्रभु ही **हव्यानि**=(ग्रहीतुं योग्यानि वस्तूनि—द०) सब ग्रहण के योग्य वस्तुओं को **परिअक्रमीत्**=चारों ओर आक्रान्त किये हुए हैं। सब उपादेय वस्तुओं के अधिष्ठाता वे प्रभु ही हैं। उन्नति के लिए सब आवश्यक वस्तुओं को वे प्रभु ही प्राप्त कराया करते हैं। ५. वे प्रभु **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए—अपने को उस प्रभु के प्रति दे डालनेवाले के लिए **रत्नानि**=रमणीय पदार्थों को **दधत्**=धारण करते हैं। जैसे एक बालक स्वयं अपनी आवश्यकताओं को अच्छी प्रकार नहीं समझता, परन्तु उसकी माता उसे सब आवश्यक पदार्थ प्राप्त कराती है, इसी प्रकार समर्पण करनेवाले भक्त को प्रभु भी जननी की भाँति सब रमणीय पदार्थ देते हैं। इन रमणीय पदार्थों से अपनी सम्यक् उन्नत्ति करता हुआ प्रभु-भक्त शरीर में शक्ति का पति बनता है तो मस्तिष्क से तत्त्व-द्रष्टा बनता है।

भावार्थ—प्रभु के प्रति आत्मसमर्पण करते हुए हम प्रभु से दिये रमणीय पदार्थों के सम्यक् प्रयोग से शक्ति व ज्ञान के पति बनें।

ऋषिः—पायुः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

परितो-धारण—स्थितप्रज्ञता

परि॑ त्वाग्ने॒ पुर॑ं व॒यं विप्रं॑ सहस्य धीमहि।
धृ॒षद्व॑र्णं दि॒वेदि॑वे हन्ता॑रं भङ्गु॒रावता॑म्॥२६॥

१. गत मन्त्र का 'सोमक'=विनीत प्रभु के प्रति अपना अर्पण करके पूर्णरूप से अपना रक्षण कर पाता है, उसी प्रकार जैसेकि माता की गोद में आत्मार्पण करनेवाला बालक। इस अर्पण को करनेवाला यह 'पायुः' (पा रक्षणे) नामवाला होता है। यह कहता है कि १. हे **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **वयम्**=हम **त्वा**=आपको **परिधीमहि**=अपने चारों ओर धारण करते हैं। जो आप ३. **पुरम्**=(पॄ पालनपूरणयोः) अपनी विविध क्रियाओं के द्वारा हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं। आपने हमारे पालन के लिए अनेकविध ओषधि-वनस्पतियों का निर्माण किया है। ४. **विप्रम्**=आप ज्ञानी हो, क्रान्तदर्शी=कवि हो। ज्ञान के द्वारा विशेषरूप से सबका पूरण करनेवाले हो। ज्ञानाग्नि ही तो दोषों को विच्छिन्न करती है। ५. **सहस्य**=हे प्रभो! आप सहस् में उत्तम हो अथवा सहस् में निवास करनेवाले हो। जिस पुरुष में सहनशक्ति होती है उसी में आपका निवास है। ६. **धृषद्वर्णम्**=**(धृष्णोतीति धृषन् प्रगल्भो वर्णो यस्य तम् असह्यरूपम्**—म०) असह्य तेजवाले आप हैं। आपके तेज के सामने अन्य सब तेज पराभूत हो जाते हैं। ७. इस तेज से ही आप **दिवे-दिवे**=प्रति-दिन **भङ्गुरावताम्**=तोड़-फोड़ के कामों में लगे हुए राक्षसों के **हन्तारम्**=नष्ट करनेवाले हैं। अथवा **भंगुर**=अनवस्थित मनवालों के—डाँवाँडोल मनोवृत्तिवालों के आप समाप्त करनेवाले हैं। स्थितप्रज्ञ दैवीवृत्तिवाला व्यक्ति ही आपका रक्षणीय होने से 'पायु' (one who is protected) है।

भावार्थ—वे प्रभु 'अग्नि-पुरं-विप्र-सहस्य-धृषद्वर्ण व भंगुरावत्—हन्ता' हैं। हम भंगुर-वृत्तिवाले न बनकर स्थितप्रज्ञ बनें और प्रभु के रक्षणीय हों। प्रभु को परितः धारण करनेवाला ही प्रभु का रक्षणीय होता है।

ऋषिः—गृत्समदः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

ज्योति का प्रादुर्भाव

त्वम॑ग्ने द्यु॒भिस्त्वमा॑शुशु॒क्ष॒णि॒स्त्वम॒द्भ्यस्त्वमश्म॑न॒स्परि॑।
त्वं वने॑भ्य॒स्त्वमोष॑धीभ्य॒स्त्वं नृ॒णां नृ॑पते जायसे॒ शुचि॑ः॥२७॥

१. प्रभु से रक्षित गत मन्त्र का 'पायु' फिर से प्रभु-स्तवन में आनन्द लेता हुआ 'गृत्समद' बनता है और इस रूप में स्तुति करता है—२. हे **अग्ने**=अपने तेज से सब बुराइयों को भस्म करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप और **त्वम्**=आप ही **द्युभिः**=अपनी ज्ञान-ज्योतियों से **आशुशुक्षणिः**=शीघ्रता से हमारे सब काम, क्रोध व लोभादि शत्रुओं का शोषण करनेवाले हैं। प्रभु की ज्योति से दीप्त हृदय में वासना-लताएँ नहीं पनपतीं। २. हे **नृपते**=वासना-शोषण द्वारा मनुष्यों के रक्षक प्रभो! **शुचिः**=आप पूर्ण पवित्र व पूर्ण दीप्त हो। ३. **त्वम्**=आप **अद्भ्यः**=समुद्र के विस्तृत जलों से **जायसे**=आविर्भूत होते हो। '**यस्य समुद्रम्**=ये समुद्र भी

तो आपकी महिमा का प्रतिपादन कर रहे हैं। ४. **त्वम्**=आप **अश्मनः**=मेघ से (नि० १।१०) **परिजायसे**=अन्तरिक्ष में चारों ओर आविर्भूत हो रहे हो। अन्तरिक्ष में उमड़ते हुए बादल आपकी महिमा को प्रकट कर रहे हैं। ५. **त्वं वनेभ्यः**=आप ही इन मीलों-मील फैले हुए वनों में प्रकट हो रहे हैं। इन वनों में भी आपकी ही विभूति दृष्टिगोचर होती है। ६. **त्वम् ओषधीभ्यः**=आप ही इन वनोत्पन्न ओषधियों में प्रकट होते हो। ओषधियाँ भी आपकी ही महिमा का प्रतिपादन कर रही हैं। इस महिमा को ज्ञानी ही सुन पाता है। ७. **त्वम्** =आप **नृणाम्**=(नृ नयने) अपने को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले पुरुषों में **जायसे**=आविर्भूत होते हो। वे श्रेष्ठ पुरुष भी आपकी ही विभूति होते हैं। ८. यहाँ प्रसंगवश यह भी स्पष्ट है कि प्रभु का दर्शन वे ही करते हैं जो मेघस्थ जलों का या वन की वनस्पतियों का ही प्रयोग करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-दर्शन के लिए वनौषधियों को ही भोजन बनाएँ, मेघजलों को ही पेय द्रव्य समझें। निरन्तर आगे बढ़ने की भावनावाले हों। अवश्य हममें प्रभु की ज्योति जगेगी और उस ज्योति से सब वासनाएँ भस्म हो जाएँगी।

ऋषिः—गृत्समदः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—प्रकृतिः। **स्वरः**—धैवतः॥

आनन्द एवं शक्ति

देवस्य त्वा सुवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत् खनामि। ज्योतिष्मन्तं त्वाग्ने सुप्रतीकमजस्रेण भानुना दीद्यतम्। शिवं प्रजाभ्यो ऽहिꣳसन्तं पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत् खनामः॥२८॥

१. गृत्समद कहता है कि मैं **त्वा**=तुझे, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ को **सवितुः देवस्य**=उस उत्पादक देव की **प्रसवे**=अनुज्ञा में ग्रहण करता हूँ। उसका आदेश यही तो है कि 'ओदन एव ओदनं प्राशीत्' केवल यह अन्न का विकार भौतिक शरीर ही ओदन को खाये, अर्थात् शरीर की आवश्यकतानुसार ही भोजन करना—न अधिक, न कम बस, मात्रा में। २. **अश्विनोः बहुभ्याम्**=प्राणापान के प्रयत्न से पदार्थों को ग्रहण करूँ। मैं सेतमैंत किसी वस्तु को न लूँ। ३. **पूष्णो हस्ताभ्याम्**=पूषण के हाथों से ही लूँ, अर्थात् जितना पोषण के लिए पर्याप्त हो उतना ही मैं इन भौतिक वस्तुओं का स्वीकार करूँ। ४. इस प्रकार इन भौतिक भोगों में आसक्त न हुआ-हुआ मैं **पृथिव्याः सधस्थात्**=इस शरीर के सधस्थ से, अर्थात् हृदयदेश से (यह हृदय ही जीवात्मा व परमात्मा का मिलकर रहने का स्थान है) **अग्निम्**=उस सब उन्नतियों के साधक **पुरीष्यम्**=(पृणाति सुखम्) सुख-प्राप्ति में उत्तम प्रभु को **खनामि**=उसी प्रकार खोजता हूँ जैसेकि **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् लोग खोजा करते हैं। वस्तुतः जो भी व्यक्ति प्रभु का खोजनेवाला बनता है वह भोगों में आसक्त न होने के कारण 'अङ्गिरस्' बनता ही है, उसका शरीर रसमय अङ्गोंवाला बना रहता है। ५. हे **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **त्वा**=हम उस तुझे खोजते हैं जोकि **ज्योतिष्मन्तम्**=ज्योतिवाले हैं। आपको प्राप्त करके हमारी ज्ञान की ज्योति दीप्त होती है। ६. **सुप्रतीकम्**=आप उत्तम मुखवाले हैं। आपका स्वरूप तेजस्वी है। भक्त आपको तेजोमय रूप में ही देखता है। ७. **अजस्रेण भानुना दीद्यतम्**=निरन्तर दीप्ति से आप देदीप्यमान हैं। ८. **शिवं प्रजाभ्यः**=प्रजाओं के लिए आप कल्याण करनेवाले हैं। ९. **अहिंसन्तम्**=आप हिंसा नहीं होने देते। १०. **पृथिव्याः**

सधस्थात्=इस पार्थिव शरीर के मिलकर रहने के स्थान से, अर्थात् हृदयदेश से **पुरीष्यम्**=सब सुखों के पूरण करनेवाले आपको **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति **खनामः**=खोजते हैं। हृदयदेश में ध्यान से आपका दर्शन करके अनिर्वचनीय आनन्द को अनुभव करते हैं और अङ्ग-अङ्ग में रस के सञ्चार से अङ्गिरस् बनते हैं।

भावार्थ—इस ज्योतिर्मय प्रभु का दर्शन ही हमारे जीवन का ध्येय हो। इसी में आनन्द है, इसी में अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति का मूल है।

ऋषिः—गृत्समदः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

गृत्समद का लक्षण

अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेः समुद्रमभितः पिन्वमानम्।
वर्धमानो महाँ२॥ऽआ च पुष्करे दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्व॥२९॥

१. स्तोता 'गृत्समद' को प्रेरणा देते हुए प्रभु कहते हैं कि **अपां पृष्ठम् असि**=व्यापक कर्मों का (आप् व्याप्तौ) तू पृष्ठ है, अर्थात् तेरे जीवन से व्यापक कर्म ही प्रवृत्त होते हैं। ये कर्म तेरे जीवन-मन्दिर की नींव ही हैं। २. **अग्नेः योनिः**=तू उत्साह (अग्नि) का उत्पत्ति स्थान है। तेरे जीवन में उत्साह की उष्णता है। निराशा की शीतता ने तुझे जकड़ नहीं लिया। ३. **अभितः पिन्वमानं समुद्रं (इव) वर्धमानः**=सब ओर से नदियों से पूर्ण होते हुए समुद्र की भाँति तू बढ़ रहा है। (**आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्। तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥** —गीता०) इन सारे संसार के काम्य पदार्थों से परिपूर्ण होता हुआ भी तू अपनी मर्यादा को नहीं तोड़ता—उन विषयों के गर्व से फूल नहीं जाता, उनमें फँसता नहीं ४. **च**=और **पुष्करे**=इस कमलवत् निर्लिप्त हृदय में **महान्**=तू बड़ा बनता है। तू अपने दिल को संकुचित नहीं होने देता। ५. **दिवः**=ज्ञान की **मात्रया**=मापक शक्ति से **वरिम्णा**=हृदय की विशालता से अथवा अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति के विस्तार से तू **प्रथस्व**=विस्तृत हो, अर्थात् तेरा ज्ञान भी बढ़े तथा सब अङ्ग भी सशक्त हों। तू अपने बढ़े हुए ज्ञान से विषयों को ठीक माप सके, वस्तुओं को ठीक रूप में समझ सके और सशक्त इन्द्रियों से उस ज्ञान के अनुसार कार्य कर सके।

भावार्थ—गृत्समद के लक्षण ये हैं—१. व्यापक कर्म ही इसके जीवन का आधार होते हैं। २. इसके जीवन में कभी उत्साह-शून्यता नहीं आती। ३. काम्य पदार्थों को प्राप्त करता हुआ यह मर्यादा में रहता है। ४. अपने निर्लिप्त हृदय को विशाल बनाता है। ५. ज्ञान की मात्रा से तथा शक्ति की वृद्धि से यह अपने को विस्तृत करता है।

ऋषिः—गृत्समदः। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

गृत्समद पति-पत्नी

शर्म च स्थो वर्म च स्थोऽछिद्रे बहुलेऽउभे।
व्यचस्वती संवसाथां भृतमग्निं पुरीष्यम्॥३०॥

जो पति-पत्नी अपने जीवन को प्रभु-स्तवनवाला बनाते हैं वे १. **शर्म च स्थः**=आनन्दमय जीवनवाले होते हैं (**शर्म**=Happines)। जैसे घर में मनुष्य आनन्दपूर्वक निवास करते हैं उसी प्रकार ये भी उस प्रभुरूप गृह में सानन्द रहते हैं। २. **वर्म च स्थः**=प्रभु ही इनका कवच हो जाता है। उस प्रभु से ऊपर-नीचे निहित (ढके) हुए ये व्यक्ति वासनाओं के

आक्रमण से आक्रान्त नहीं होते। ३. इसी का परिणाम है कि **अछिद्रे**=ये दोषरहित जीवनवाले होते हैं। ४. **उभे**=ये दोनों पति-पत्नी **बहुले**=विशाल (broad) हृदयवाले होते हैं, ये अपनी मैं में बहुतों को समाविष्ट कर लेते हैं। अन्ततोगत्वा ये सारी पृथिवी को अपना परिवार ही समझते हैं। ५. इस प्रकार **व्यचस्वती**=ये विस्तारवाले होते हैं। अपने को अधिक और अधिक फैलाते चलते हैं। ६. **संवसाथाम्**=घर में मिलकर निवास करते हैं। इनके घर में कभी कलह व क्लेश नहीं होता। ७. हो भी क्यों? क्योंकि **पुरीष्यम्**=सुखों के पूरण करनेवाले **अग्निम्**=अग्रेणी प्रभु को **भृतम्**=ये धारण करते हैं। 'उस आनन्द के भण्डार प्रभु को धारण करो' यही इनके जीवन का सूत्र होता है।

भावार्थ—१. प्रभु के उपासक पति-पत्नी प्रभुरूप घर में ही निवास करते हैं। २. प्रभु ही इनका कवच होता है। ३. इसी से इनका जीवन दोषशून्य होता है। ४. इनकी 'मैं' में बहुतों का समावेश होता है। ५. ये विस्तारवाले होते हैं। ६. मिलकर रहते हैं। ७. आनन्दमय प्रभु को धारण करते हैं।

ऋषिः—गृत्समदः। **देवता**—जायापती। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पति-पत्नी का गृह-संवास

संवसाथाꣳस्वर्विदा समीचीऽउरसा त्मना।
अग्निमन्तर्भरिष्यन्ती ज्योतिष्मन्तमजस्त्रमित्॥३१॥

१. पिछले मन्त्र में वर्णित पति-पत्नी **संवसाथाम्**=घर में सम्यक् निवासवाले होते हैं। ये परस्पर कुत्ते-बिल्ली की भाँति न लड़ते हुऐ बड़ी मधुरता से चलते हैं। २. परिणामतः **स्वर्विदा**=ये स्वर्ग को प्राप्त करते हैं। इनका घर एक छोटा-मोटा स्वर्ग ही बन जाता है। मेलवाले घर में क्लेश का क्या काम? ३. **समीची**=अपने उस स्वर्गतुल्य घर में ये सदा सम्यक् मिल-जुलकर कर्म करनेवाले होते हैं। दोनों दो बैलों की भाँति गृहस्थ-शकट में जुते हुए गृहस्थ की गाड़ी को बड़ी उत्तमता से खैंचते हैं। ४. **त्मना**=स्वयं **उरसा**=अपनी छाती के ज़ोर से ये इस गाड़ी को खैंचते हैं, औरों के भरोसे बैठे नहीं रह जाते। ये पराश्रित नहीं होते—ये संसार में आत्मविश्वास के साथ चलते हैं। ५. चल इसलिए सकते हैं क्योंकि ये **अन्तः**=अपने अन्दर **अग्निम्**=प्रभु की भावना को—उत्साह को **भरिष्यन्ती**=भरनेवाले होते हैं (भरिष्यन्ती=धारयमाणः—उ०)। जो प्रभु **इत्**=निश्चय से **अजस्त्रम्**=निरन्तर, बिना विच्छेद के, **ज्योतिष्मन्तम्**=ज्योतिवाले हैं। प्रकाशमय प्रभु को हृदय में धारण करने से इनका जीवन सदा प्रकाशमय रहता है। इन्हें कहीं अन्धकार प्रतीत नहीं होता। उस प्रकाश में ये उत्साहपूर्वक आगे बढ़ते चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु-भक्त पति-पत्नी की विशेषताएँ निम्न हैं—१. मेल से चलते हैं, २. घर को स्वर्ग बनाने का प्रयत्न करते हैं, ३. उत्तम गतिवाले होते हैं, ४. आत्मनिर्भरता से चलते हैं, ५. हृदयों में प्रभु को धारण करते हैं, परिणामतः कभी अन्धकार में नहीं होते।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

निर्लिप्त मन+दीप्त मस्तिष्क—भरद्वाज का प्रभु-स्तवन

पुरीष्योऽसि विश्वभराऽअथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने।
त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत। मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः॥३२॥

१. 'गृत्समद' का वर्णन गत मन्त्रों में था। यह 'प्रभु-स्तवन करता है, और मस्त

रहता है' अतः अपने में शक्ति का भरण करके 'भरद्वाज' बन जाता है। शक्ति का ह्रास मौलिकरूप से दो कारणों से होता है। (क) हम प्रभु से दूर हो जाते हैं तो हमें पग-पग पर घबराहट होती है। (ख) जब जीवन में प्रसन्नता नहीं रहती तो चिन्ता हमें खाये चली जाती है। चिन्ता शक्ति के लिए चिता के समान है। चिन्ता गई और मनुष्य 'भरद्वाज' (शक्ति-सम्पन्न) बना। यह भरद्वाज प्रभु-स्तवन करता है कि—२. **पुरीष्यः असि**=हे प्रभो! आप स्तोताओं के जीवन में आनन्द का पूरण करनेवाले हो। ३. **विश्वभरा**=सबका भरण करनेवाले हो। ४. **अग्ने** =प्रभो! **प्रथमः**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला **अथर्वा**=(न थर्वति) न डाँवाँडोल होनेवाला, अडोल मनवाला, स्थितप्रज्ञ ही **त्वा**=आपका **निरमन्थत्**=निश्चय से मन्थन कर पाता है। जैसे एक व्यक्ति दही का मन्थन करके घृत का दर्शन करता है, इसी प्रकार हे **अग्ने**=सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **अथर्वा**=अडोल मनवाला पुरुष ही **त्वाम्**=आपको **पुष्करात् अधि**=इस कमल-पत्र की भाँति निर्लेप मन से **निर् अमन्थत**=निश्चय से मन्थित करता है, अर्थात् अपने इस हृदयाकाश में आपका दर्शन करता है। अथर्वा की भाँति **वाघतः**=मेधावी पुरुष—ज्ञान का वहन करनेवाला पुरुष **विश्वस्य**=(**विशति**) व्यापक ज्ञान में प्रवेश करनेवाले **मूर्धनः**=मस्तिष्क से आपका मन्थन करनेवाला होता है, अर्थात् आपके ज्ञान के लिए वासनाओं से अनान्दोलित मन तथा ब्रह्माण्ड के सब पदार्थों के ज्ञान का वहन करनेवाला मस्तिष्क दोनों ही आवश्यक हैं—'निर्लिप्त मन तथा दीप्त मस्तिष्क।'

भावार्थ—प्रभु ही सुखों का पूरण करनेवाले तथा सबका भरण करनेवाले हैं। हम अपने हृदयों को विषय-पङ्क से अलिप्त रक्खें, मस्तिष्क को सम्पूर्ण ज्ञान से भरने का प्रयत्न करें—यही प्रभु-दर्शन का मार्ग है।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

दध्यङ्+ऋषिः+पुत्रः—इन्धन

तमु त्वा दध्यङ्ङृषिः पुत्रऽईधेऽअथर्वणः। वृत्रहणं पुरन्दरम्॥३३॥

१. भरद्वाज ही कहते हैं कि **तम् उ त्वा**=निश्चय से उस आपको **ईधे**=अपने हृदय-कमल में (पुष्कर में) समिद्ध (विकसित) करता है। कौन? (क) **दध्यङ्**=निरन्तर ध्यान करनेवाला, दीर्घकाल तक, निरन्तर, आदरपूर्वक प्रभु से योग करता हुआ (योगं युञ्जन्), प्रतिदिन सन्ध्या करता हुआ। (ख) **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा वस्तुओं की वास्तविकता का चिन्तन करनेवाला और परिणामतः उनमें न फँसनेवाला, (ग) **पुत्रः**=जो अपने को पवित्र करता है (पुनाति) और वासनाओं से अपने को बचाता है (त्रायते)। २. कहाँ समिद्ध करता है? **अथर्वणः**= डाँवाँडोल न होनेवाले मन में। प्रभु का दीपन हृदय में होता है, उस हृदय में जिसमें वासनाओं की लहरें नहीं उठती रहतीं। जो हृदय-समुद्र वासनाओं के तूफ़ानों से क्षुब्ध नहीं है। क्षुब्ध हृदय-समुद्र में प्रभु-दर्शन नहीं होता। ३. किसको समिद्ध करता है? उस प्रभु को जो (क) **वृत्रहणम्**=प्रभु-ज्ञान की आवरणभूत वासना को नष्ट करनेवाले हैं। (ख) **पुरन्दरम्**= शरीर, मन व बुद्धि में बनाये गये असुरों के अधिष्ठानों को नष्ट करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन उन्हें होता है जो ध्यानी, तत्त्वद्रष्टा, पवित्र व वासनाओं से अपना त्राण करनेवाले होते हैं। यह दर्शन वासनाओं से अनान्दोलित मन में होता है। दर्शन होने पर वासना विनष्ट हो जाती है, असुरों के किले भूमिसात् हो जाते हैं और हमारे 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों ही पवित्र हो जाते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

पाथ्यः+वृषा—समिन्धन

तमु त्वा पाथ्यो वृषा समीधे दस्युहन्तमम्। धनञ्जयꣳरणेरणे॥३४॥

१. **तमु त्वा**=निश्चय से उस आपको **समीधे**=अपने हृदय-कमल में समिद्ध करता है। कौन? (क) **पाथ्यः**=पथ पर, मार्ग पर चलनेवाला। प्रभु का दर्शन वही करता है जो अपने कर्त्तव्य-पथ से कभी भ्रष्ट नहीं होता। (ख) **वृषा**=जो शक्तिशाली है अथवा औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाला है। वस्तुतः मार्ग-भ्रष्ट न होनेवाला व्यक्ति शक्तिशाली बनता है और यह व्यक्ति अपना कर्त्तव्य समझता है कि औरों पर भी सुखों की वर्षा करनेवाला बने। वह पापी होता है जो केवल अपने लिए जीता है **'केवलाघो भवति केवलादी'**। २. किस प्रभु को यह समिद्ध करता है? (क) **दस्युहन्तमम्**=जो प्रभु दस्युओं के सर्वाधिक हन्ता हैं। वे प्रभु नाशक वृत्तियों के ध्वंसक हैं। हम प्रभु का नामोच्चारण करते हैं और काम-क्रोध आदि वृत्तियाँ विलुप्त हो जाती हैं। (ख) वे प्रभु **रणेरणे**=प्रत्येक संग्राम में **धनञ्जयम्**=धनों के विजेता हैं। प्रभु का हृदयों में प्रकाश होता है तो हम उन धनों के विजेता बनते हैं, जिनसे हमारा जीवन धन्य हो जाता है।

भावार्थ—१. प्रभु का स्मरण करनेवाला 'भरद्वाज'=अपने में शक्ति को भरनेवाला बनता है। २. प्रभु का प्रकाश वही देखता है जो मार्ग पर चलता है और मार्ग पर चलने के कारण शक्तिशाली बनता है। अथवा जो मार्ग पर चलता है और औरों पर भी सुखों की वर्षा करता है। ३. प्रभु-दर्शन करनेवाला व्यक्ति नाशक तत्त्वों व आसुर वृत्तियों का संहार कर पाता है और संग्रामों में उत्तम धनों का विजेता बनता है।

ऋषिः—देवश्रवो देववातः। देवता—होता। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

पाथ=मार्ग

सीद होतः स्वऽउ लोके चिकित्वान्त्सादया यज्ञꣳसुकृतस्य योनौ।
देवावीर्देवान् हविषा यजास्यग्ने बृहद्यजमाने वयो धाः॥३५॥

१. गत मन्त्र में उल्लेख था कि मार्ग पर चलनेवाला प्रभु-दर्शन करता है। प्रस्तुत मन्त्र में उस मार्ग का वर्णन करते हैं। २. हे **होतः**=(हु दानादनयोः) दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **सीद**=अपने इस शरीररूप घर में निषण्ण हो। तू अपने शरीर में ही ठहरनेवाला बन। तू स्वस्थ बन। ३. **उ** और **स्वः**=अपने ही **लोके**=(लोकृ दर्शने) देखने में तू स्थित हो। तू अपना ही निरीक्षण करता हुआ, अपने दोषों को जानकर उन्हें दूर करनेवाला बन। तू 'आत्म-निरीक्षण में स्थित हो'। ४. **चिकित्वान्**=(कित ज्ञाने) तू ज्ञानी बन, समझदार बन। इस संसार में प्रत्येक कार्य को कुशलता से करनेवाला हो। ५. इस **सुकृतस्य**=बहुत पुण्यों के **योनौ**=घर में, अर्थात् उस शरीर में जो 'बहुपुण्यलब्धम्' न जाने कितने पुण्यों से प्राप्त हुआ है और 'धर्मैकहेतु'=केवल धर्म के कार्यों के लिए दिया गया है, उस शरीर में **यज्ञम्**=(यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म) श्रेष्ठतम कर्मों को **सादय**=तू बिठा। यह पृथिवी तो देवयजनी=देवों के यज्ञ करने की भूमि है। यह हमारी छोटी पृथिवी, अर्थात् शरीर भी यज्ञों के लिए ही उद्दिष्ट है—**'पुरुषो वाव यज्ञः'**=पुरुष तो है ही यज्ञ। ६. **देवावीः**=(अव, भागदुघे) तू उत्तम कर्म कर, दिव्य गुणों के अंशों का अपने में दोहन करनेवाला हो। तू अपनी दैवी सम्पत्ति को बढ़ा। ७. तू **देवान्**=दिव्य गुणों को **हविषा**=दानपूर्वक अदन से, त्यागवृत्ति से ही **यजासि**=अपने साथ सङ्गत करनेवाला होता

है। त्यागपूर्वक उपभोग शरीर को स्वस्थ व नीरोग बनाता है तो मन को भी दिव्य गुणों से परिपूर्ण करता है। ८. हे **अग्ने**=अपने सखा जीव की सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **यजमाने**=इस यज्ञ के स्वभाववाले व्यक्ति में **बृहद् वयः**=इस वृद्धिशील जीवन को **धाः**=धारण कीजिए। यज्ञ के स्वभाववाला यह व्यक्ति उन्नति-पथ पर निरन्तर अग्रसर होता जाए। इसका जीवन वृद्धिशील हो। ९. इस प्रकार दिव्य गुणों के कारण यश को प्राप्त करनेवाला यह व्यक्ति 'देवश्रवस्' कहलाता है, देवों के कारण यशवाला यह देवों– विद्वानों व सूर्यादि देवों से निरन्तर प्रेरणा प्राप्त करने के कारण 'देववात' है।

भावार्थ–मार्ग यह है–हम १. दानपूर्वक अदन (भक्षण) करनेवाले बनकर स्वस्थ बनें। २. आत्म-निरीक्षण करते हुए अपने ही दोषों को देखें। ३. समझदार बनें। ४. इस धर्मार्थ प्राप्त शरीर में निवास करते हुए यज्ञों को करनेवाले बनें। ५. दिव्य गुणों का अपने में दोहन करें। ६. त्यागवृत्ति से दिव्य गुणों को बढ़ाएँ। ७. वृद्धिशील जीवनवाले हों।

ऋषिः–गृत्समदः। **देवता**–अग्निः। **छन्दः**–आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**–धैवतः॥

गृत्समद का जीवन

नि होता॑ होतृष॒दने॒ विदा॑नस्त्वे॒षो दी॑दि॒वाँ२॥ऽअ॑सदत्सु॒दक्षः॑।
अद॑ब्धव्रतप्रम॒ति॒र्व॒सि॒ष्ठः॒ सह॑स्रम्भ॒रः॒ शु॒चि॒जि॒ह्वोऽअ॒ग्निः॑ ॥३६॥

१. मार्ग को ही स्पष्ट करने के लिए गृत्समद (स्तोता व सदा प्रसन्न) के जीवन का वर्णन करते हैं कि यह **होता**=सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला होता है। **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'**=त्यागपूर्वक उपभोक्ता होता है। २. **होतृषदने न्यसदत्**=होताओं के घर में निवास करता है–यह प्रयत्न करता है कि उसके घर में, उसके परिचितों के घर में सभी की वृत्ति 'होता' की वृत्ति हो। सभी में दानपूर्वक यज्ञ-शेष को ही खाने का भाव हो। ३. **विदानः** =यह ज्ञानी हो, समझदार हो। लोक-व्यवहार को समझता हो, भौंदू न हो। ४. **त्वेषः**=भोगवृत्तिवाला न होने से स्वस्थ हो और इसके चेहरे पर स्वास्थ्य की दीप्ति हो। ५. **दीदिवान्**=इसके मस्तिष्क में ज्ञान की ज्योति हो। यह ज्ञानाग्नि को अपने में प्रज्वलित करनेवाला बने। ६. **सुदक्षः**=बड़ा कार्यकुशल हो। दक्ष dexterous=निपुण हो। ७. **अदब्धव्रतप्रमतिः**=अहिंसित व्रतों व प्रकृष्ट बुद्धिवाला हो। ८. अहिंसित व्रतों व बुद्धि के कारण ही यह **वसिष्ठः**=उत्तम निवासवाला हो। अथवा वशियों (वश में करनेवालों में) में यह श्रेष्ठ हो। ९. जितेन्द्रियता के परिणामरूप यह **सहस्रम्भरः**=हज़ारों का पोषण करनेवाला हो, यह केवल 'स्वोदरम्भरि'= अपने पेट को भरनेवाला ही न बना रहे। १०. **शुचिजिह्वः**=इसकी जिह्वा शुचि=दीप्त व पवित्र हो। यह शुभ ही शब्द बोले अशुभ नहीं। ११. इस प्रकार **अग्निः**=यह निरन्तर आगे बढ़नेवाला हो।

भावार्थ–'गृत्समद' वही है जो उल्लिखित ११ बातों को अपने जीवन में लाता है। वस्तुतः जीवन का ठीक मार्ग है ही यह।

ऋषिः–प्रस्कण्वः। **देवता**–अग्निः। **छन्दः**–निचृदार्षीबृहती। **स्वरः**–मध्यमः॥

'प्रस्कण्व' की 'ज्ञान-सृष्टि'

सꣳसी॑दस्व म॒हाँ२॥ऽअ॑सि॒ शोच॑स्व देव॒वीत॑मः।
वि धू॒मम॑ग्नेऽअरु॒षं मि॑येध्य सृ॒ज प्र॑शस्त दर्श॒तम्॥३७॥

१. गत मन्त्र का गृत्समद (जो स्तवन करता है और प्रसन्न रहता है) ही वस्तुतः प्रस्कण्व=मेधावी है। प्रभु इस मेधावी पुरुष से कहते हैं कि १. **संसीदस्व**=तू अपने इस शरीर में सम्यक् निवासवाला हो। २. **महान् असि**=तूने अपने हृदय को महान् बनाया है। ३. **शोचस्व**=तू इस विशालता के कारण शुचि व पवित्र बना है, तेरा जीवन उज्ज्वल हुआ है। ४. **देववीतमः**=तू अधिक-से-अधिक दिव्य गुणों को प्राप्त करनेवाला है। (वी=प्राप्ति) ५. **अग्ने**=हे अग्रगति के साधक जीव! **प्रशस्त**=उत्तम प्रशंसनीय जीवनवाले जीव! **मियेध्य**=(मेध्य) यज्ञिय जीवनवाले जीव! तू उस ज्ञान को विविध रूपों में उत्पन्न कर जो (क) **धूमम्**=(धूञ् कम्पने) सब वासनाओं को कम्पित करके तेरे जीवन को उन्नत करनेवाला है। (ख) **अरुषम्**=जो ज्ञान तुझे (अ-रुषं) क्रोध-शून्य बनाता है। (ग) तथा, **दर्शतम्**=जो ज्ञान दर्शनीय व सुन्दर है अथवा जो सदा तुझे कर्त्तव्य का दर्शन कराता है।

भावार्थ—हम उस ज्ञान को उत्पन्न करने का प्रयत्न करें जो १. हमारी वासनाओं को नष्ट करता है। २. हमें क्रोध-शून्य बनाता है। ३. और कर्त्तव्य-पथ दिखाता है।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—न्यङ्कुसारिणीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

स्वास्थ्य व जल

अपो देवीरुपसृज मधुमतीरयक्ष्माय प्रजाभ्यः।
तासामास्थानादुज्जिहतामोषधयः सुपिप्पलाः॥३८॥

१. पिछले तीन मन्त्रों में उस मार्ग का प्रदर्शन है, जिसपर चलकर हमें प्रभु का दर्शन करना है। मार्ग पर चलना तभी सम्भव है यदि हम स्वस्थ हों, अतः यहाँ 'सिन्धुद्वीप' ऋषि के तीन मन्त्रों में स्वास्थ्य के मौलिक साधनों 'जल, वायु व अग्नि' पर क्रमशः प्रकाश डाला गया है। २. जल के विषय में कहते हैं कि हे प्रभो! आप **अपः देवीः**=दिव्य गुणोंवाले जलों का **उपसृज**=समीपता से सृजन करो। आपकी कृपा से उत्तम गुणोंवाले जल हमें समीपता से सुलभ हों। जहाँ हम रहते हैं वहाँ उत्तम जल सुप्राप्य हो। ३. ये जल **मधुमतीः**=माधुर्यवाले हों। इनसे हमारे शरीर में उन रसादि धातुओं का निर्माण हो जो हमारे जीवनों को मधुर बना दें। ४. ये जल **प्रजाभ्यः**=सब प्रजाओं के लिए **अयक्ष्माय**=यक्ष्मादि रोगों से राहित्य के लिए हों। इनके सेवन से यक्ष्मादि रोग भी दूर हो जाएँ, ऐसी शक्ति इन जलों के अन्दर हो। ५. **तासाम्**=उन जलों के **आस्थानात्**=चारों ओर ठहरने के स्थान से **सुपिप्पलाः**=उत्तम फलोंवाली **ओषधयः**=ओषधियाँ **उज्जिहताम्**=उद्गत हों, उत्पन्न हों। इन जलों से सिक्त क्षेत्रों में उत्तम फलोंवाली ओषधियाँ विकसित हों। यह सामान्य अनुभव है कि गन्दे पानी से सिक्त खेतों की सब्जियाँ कूप जल से सिक्त खेतों की सब्जियों से बड़ी हीन होती हैं। ६. एवं, इस संसार-समुद्र में सिन्धु=बहनेवाले ये जल द्वीप=शरण हैं जिसके ऐसा यह 'सिन्धुद्वीप' ही प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि है। अगले मन्त्र में 'वायु' का वर्णन है वे भी बहनेवाले होने से 'सिन्धु' हैं। चालीसवाँ मन्त्र 'अग्नि' का है। 'अधिक तापांशवाले पदार्थ से निम्न तापांशवाले पदार्थ की ओर बहने से वह भी 'सिन्धु' है। इन तीनों के ठीक प्रयोग से अपने स्वास्थ्य की रक्षा करनेवाला यह ऋषि 'सिन्धुद्वीप' है।

भावार्थ—जल दिव्य गुणोंवाले हैं, ये माधुर्य को उत्पन्न करते हैं, यक्ष्मा को नष्ट करते हैं। इनसे उत्पन्न ओषधियाँ उत्तम फलवाली होती हैं।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। देवता—वायुः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

वायु व दिव्य जीवन

सं ते वायुर्मातरिश्वा दधातूत्तानाया हृदयं यद्विकस्तम्।
यो देवानां चरसि प्राणथेन कस्मै देव वषडस्तु तुभ्यम्॥३९॥

१. घर में पति-पत्नी दो ही मुख्य प्राणी हैं। इनमें पत्नी के लिए कहते हैं कि **उत्तानायाः**=(उत् तन्) उत्कृष्ट गुणों के विस्तार करनेवाली **ते**=तेरे लिए **मातरिश्वा वायुः**=यह अन्तरिक्ष में सञ्चरण करनेवाला वायु, प्राणायाम के समय हृदयान्तरिक्ष में विचरनेवाला प्राणवायु **हृदयम्**=उस हृदय को **सन्दधातु**=उत्तमता से धारण करे **यत्**=जो **विकस्तम्**=विकासवाला है। प्राणायाम के द्वारा शरीर में शुद्ध वायु को बारम्बार गहराई तक पहुँचाने से मलों का भस्मीकरण होकर नीरोगता उत्पन्न होती है और मन में द्वेषादि मल भी नहीं रहते। इस प्रकार मलों का विनाश होकर हृदय में गुणों का उत्तमता से विकास होता है। २. पत्नी की भाँति पति भी समतावाला होकर प्राणायाम द्वारा निर्मल बनकर ऐसा हो जाता है कि **यः**=जो **देवानां प्राणथेन**=देवों के जीवन से **चरसि**=विचरता है। पति का जीवन ऐसी भद्रतावाला हो जाता है कि लोग कहते हैं कि यह तो दिव्य जीवनवाला हो गया है। ३. इस पति-पत्नी का यह पवित्र जीवन हे **देव**=सब दिव्य गुणों के स्रोत प्रभो! **कस्मै**=आनन्दस्वरूप **तुभ्यम्**=आपके लिए **वषट् अस्तु**=अर्पित हो। इस वायु के द्वारा अपने जीवनों को शुद्ध बनाकर ये पति-पत्नी तेरे प्रति समर्पण करनेवाले बनते हैं। प्रभु-चरणों में पवित्र वस्तु का ही तो अर्पण समुचित है।

भावार्थ—शुद्ध वायु में प्राणायाम के द्वारा अपने हृदय का बिकास करके तथा अपने जीवन को दिव्य बनाकर हम इन्हें प्रभु-चरणों में अर्पित करनेवाले बनें।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

विश्वरूप वस्त्र का धारण

सुजातो ज्योतिषा सह शर्म वरूथमासदत्स्वः।
वासोऽअग्ने विश्वरूपꣳसंव्ययस्व विभावसो॥४०॥

१. गत मन्त्रों में वर्णित जल और वायु के समुचित प्रयोग के साथ प्रस्तुत मन्त्र में अग्नि के धारण का प्रस्ताव है, परन्तु मुख्यतया यह अग्नि वे प्रभु ही हैं। गौणरूप से यज्ञाग्नि भी अभिप्रेत है ही। २. **सुजातः**=इस अग्नि के धारण से यह जीव उत्तम (सु) विकासवाला (जातः) होता है। ३. **ज्योतिषा सह**=यह सदा ज्योति, अर्थात् प्रकाश के साथ होता है। ४. **शर्म**=आनन्द को **आसदत्**=प्राप्त होता है। ५. **वरूथम्**=शरीर के लिए रक्षक आवरण का काम देनेवाले (वरूथ=wealth) धन को प्राप्त करता है। ६. **स्वः**=प्रकाश को व स्वर्ग को भी **आसदत्**=प्राप्त करता है। ७. हे **विभावसो**=हे प्रकाशरूप धनवाले जीव! **अग्ने**=निरन्तर आगे बढ़नेवाले जीव! तू **विश्वरूपम्**=सारे ब्रह्माण्ड को रूप देनेवाले **वासः**=उस आच्छदक—वासनाओं के आक्रमण से बचानेवाले प्रभुरूप वस्त्र को **संव्यस्व**=उत्तमता से धारण कर। जब प्रभु मेरा वस्त्र होंगे, मैं प्रभुरूप वस्त्र से आच्छादित होऊँगा तब वासनाओं की सर्दी-गर्मी व वर्षा-ओले मेरी हानि करनेवाले न होंगे। प्रभु ही उपस्तरण हैं, प्रभु ही अपिधान तब उस प्रभु में सुरक्षित होकर मैं कहीं भी वासनाओं के आक्रमण से आक्रान्त

कैसे हो सकता हूँ?

भावार्थ—प्रभुरूप वस्त्र को धारण करने पर मैं सर्दी-गर्मीरूप वासनाओं से आक्रान्त नहीं होता।

ऋषिः—विश्वमनाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

उठ खड़ा हो

उद्ठ तिष्ठ स्वध्वरावा नो देव्या धिया।
दृशे च भासा बृहता सुशुक्वनिरग्ने याहि सुशस्तिभिः॥४१॥

प्रभु कहते हैं कि—१. **उ**=निश्चय से **उत्तिष्ठ**=उठ खड़ा हो। उदास व निराश बनकर पड़ा मत रह। २. **स्वध्वरावा**=(सु अध्वर अव)=उत्तम—हिंसा-शून्य कर्मों की रक्षा करनेवाला बन। ३. हे **अग्ने**=आगे बढ़नेवाले जीव! **नः**=हमारे पास **आयाहि**=आ! किस प्रकार! (क) **देव्या धिया**=(देवनस्वभावया क्रीडापरया बुद्ध्या—म०) इस संसार में प्रत्येक स्थिति को क्रीड़ापरक बुद्धि sportsman like spirit से लेते हुए, जय-पराजय में सम रहते हुए। दूसरे शब्दों में, स्थितप्रज्ञता के द्वारा। (ख) **दृशे च**=और सब संसार को ठीक रूप में देखने के लिए **बृहता भासा**=वृद्धिशील दीप्ति से—बढ़ते हुए ज्ञान से। नैत्यिक स्वाध्याय के द्वारा बढ़ती हुई ज्ञान-दीप्ति ही तो तुझ मेरे सान्निध्य को प्राप्त कराएगी। (ग) इस प्रकार **सुशुक्वनिः**=(**साधु शुचो रश्मीन् वनति सम्भजति**—म०)। उत्तम ज्ञान-दीप्तियों को प्राप्त करनेवाला तू **सुशस्तिभिः**=उत्तम कीर्तियों के द्वारा। उत्तम कर्मों के कारण प्राप्त यश के द्वारा तू हमारे समीप आनेवाला बन। ४. संक्षेप में, हृदय में दिव्य विचारों के द्वारा अथवा व्यवसायात्मिका बुद्धि के द्वारा, मस्तिष्क में वर्धमान ज्ञानाग्नि के द्वारा तथा हाथों में उत्तम यशस्वी कर्मों के द्वारा तू हमारे पास आनेवाला बन।

भावार्थ—तू उठ खड़ा हो, अहिंसात्मक कर्मोंवाला बन। पवित्र बुद्धि, बढ़ते हुए ज्ञान तथा उत्तम प्रशंसनीय कर्मों से हमें प्राप्त हो।

ऋषिः—कण्वः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—उपरिष्टाद्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

तैयार पर तैयार—सदा उद्यत

ऊर्ध्वऽऊ षु णऽऊतये तिष्ठा देवो न सविता।
ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे॥४२॥

१. गत मन्त्र का 'विश्वमना वैयश्व'=नैत्यिक स्वाध्याय से ज्ञान को बढ़ाकर 'कण्व' मेधावी बना है। वह प्रभु से प्रार्थना करता है कि **ऊ**=निश्चय से आप **नः**=हमारी **सुऊतये**=उत्तम रक्षा के लिए **ऊर्ध्वः तिष्ठ**=ऊपर खड़े हैं, अर्थात् तैयार-पर-तैयार हैं। २. **सविता देवः न**=ऊपर खड़े सूर्य की भाँति आप भी हमें निरन्तर प्रेरणा दे रहे हैं। हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा तो निरन्तर चलती ही है। ३. **वाजस्य**=शक्ति व ज्ञानों के **सनिता**=संविभक्ता—देनेवाले आप **ऊर्ध्वः**=ऊपर खड़े हैं, अर्थात् शक्ति व ज्ञान देने के लिए सदा उद्यत हैं। ४. **यत्**=ज्योंहीं हम **अञ्जिभिः**=(अञ्ज गतौ) क्रियाशील, कर्मठ **वाघद्भिः**=ज्ञान-निधि का वहन करनेवालों (क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः) के साथ **विह्वयामहे**=विविध विषयों पर ज्ञान की विशिष्ट चर्चा करते हैं। हम विद्वानों के साथ ज्ञान-चर्चा करनेवाले बनें, वे प्रभु अवश्य हमारा रक्षण करेंगे—ऊर्ध्वस्थित सूर्यदेव के समान सदा उत्तम प्रेरणा प्राप्त कराएँगे और शक्ति व ज्ञान देंगे।

भावार्थ—हम विद्वानों के सम्पर्क से मेधावी बनकर प्रभु से यही आराधना करें कि १. प्रभो! हमारी रक्षा कीजिए। २. हमें उत्तम प्रेरणा प्राप्त कराइए। ३. शक्ति व ज्ञान दीजिए।

ऋषिः—त्रितः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

त्रित का प्रभु-स्तवन

स जातो गर्भोऽअसि रोदस्योरग्ने चारुर्विभृतऽओषधीषु।
चित्रः शिशुः परि तमाꣳस्यक्तून् प्र मातृभ्योऽअधि कनिक्रदद् गाः॥४३॥

१. गत मन्त्रों का मेधावी (कण्व) अपने ज्ञान को बढ़ाकर 'त्रित'=काम, क्रोध व लोभ तीनों को तैरनेवाला बनता है। अथवा 'ज्ञान, कर्म व भक्ति' तीनों का विस्तार करता है (त्रीन् तरति, त्रीन् तनोति इति त्रितः) और इन शब्दों में प्रभु-स्मरण करता है कि—२. **जातः**=सदा से प्रसिद्ध (प्रादुर्भूत) **सः**=वह आप **रोदस्योः**=द्युलोक व पृथिवीलोक के, अर्थात् सारे ब्रह्माण्ड के **गर्भः**=गर्भ हो। आपने सारे ब्रह्माण्ड को अपने एक देश में धारण किया हुआ है (**पादोऽस्य विश्वा भूतानि**) ३. हे **अग्ने**=हमारी उन्नतियों के साधक प्रभो! **चारुः**=आप सुन्दर-ही-सुन्दर हो अथवा सारे संसार को गति देनेवाले हो (चारयति=भ्रामयन् सर्वभूतानि)। ४. **ओषधीषु**=दोषों का दहन करनेवाली इन ओषधियों-वनस्पतियों के होने पर **विभृतः**=विशेषरूप से धारण किये गये हो, अर्थात् जब एक भक्त वानस्पतिक सात्त्विक भोजन से अपने अन्तःकरण की शुद्ध कर लेता है तब आप उसके हृदय में आविर्भूत होते हैं। भक्तों के पवित्र हृदय ही आपके निवास-स्थान होते हैं। ५. उन हृदयों में स्थित हुए-हुए आप **चित्रः**=(चित्-र) संज्ञान देनेवाले हैं। ६. **शिशुः** (शो तनूकरणे)=भक्त की बुद्धि को बड़ा सूक्ष्म बनाते हैं। ७. **तमांसि परि**=अन्धकारों को दूर करते हो (**परि**=वर्जन) **अक्तून् प्र**=ज्ञान की रश्मियों को प्रकर्षेण प्राप्त कराते हो (**प्र**=बढ़ाना) ८. **मातृभ्यः**=प्रत्येक कार्य को माप-तोलकर करनेवाले के लिए अथवा ज्ञान का निर्माण करनेवालों के लिए **गाः**=वेदवाणियों को **अधिकनिक्रदत्**=आधिक्येन उच्चारण करते हो। बादल की गर्जना की भाँति हृदयस्थ प्रभु से वेदवाणियों का उच्चारण हो रहा है। हम यदि नहीं सुनते तो इसमें हमारा ही दुर्भाग्य है। हम माता=बड़ा माप-तोल कर चलनेवाले बनें, ज्ञान के निर्माण की प्रबल कामनावाले हों तब अवश्य इन वाणियों को सुनेंगे।

भावार्थ—सर्वव्यापक प्रभु के दर्शन के लिए निर्दोष अन्तःकरण चाहिए। वे प्रभु हृदयस्थ हो वेदवाणियों का उच्चारण कर रहे हैं। हमारी प्रत्येक क्रिया मपी-तुली हो तो हम अवश्य उन वाणियों को सुन पाएँगे।

ऋषिः—त्रितः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

प्रभु का त्रित को उपदेश

स्थिरो भव वीड्वङ्गऽआशुर्भव वाज्यर्वन्।
पृथुर्भव सुषदस्त्वमग्नेः पुरीषवाहणः॥४४॥

गत मन्त्र का अन्तिम वाक्य था 'मपी-तुली क्रियावाले को प्रभु ज्ञानोपदेश देते हैं'। प्रस्तुत मन्त्र में वही उपदेश निर्दिष्ट हुआ है। उपदेश यह है—१. **स्थिरो भव**=तू स्थिर हो—चञ्चलता को छोड़ दे, प्रतिक्षण इधर-उधर भागा न फिर। २. **वीड्वङ्गः**=दृढ़ अङ्गोंवाला हो। व्यर्थ की चञ्चलताओं को छोड़कर तू शान्त-वृत्तिवाला बन और अपनी शक्ति को नष्ट न होने देते हुए दृढ़ व पुष्ट अङ्गोंवाला हो। ३. **आशुः भव**=कर्मों में सदा व्याप्तिवाला हो

अथवा आलस्य को छोड़कर शीघ्रता से कार्यों को करनेवाला बन। **वाजी**=शक्तिशाली हो। **अर्वन्**=(अर्व हिंसायाम्) मार्ग में आनेवाले विघ्नों को तू नष्ट करनेवाला हो। विघ्नों से न घबराता हुआ तू शक्ति-सम्पन्नता से कार्यों को शीघ्रता से पूर्ण करनेवाला हो। ४. **पृथुर्भव**=तू विशाल हृदयवाला हो। **सुषदः**=उत्तमता से इस घर में बैठनेवाला हो अथवा सदा उत्तम कार्यों में स्थित हो। ५. इस प्रकार **त्वम्**=तू **अग्नेः**=एक अग्रणी नेता के **पुरीषवाहणः**=पालन-पूरणादि उत्तम कर्मों को वहन करनेवाला होता है, अर्थात् अग्रणी बनकर तू इस प्रकार कार्य करता है कि सभी का पालन हो और उनकी कमियाँ दूर होकर वे पूरण हो पाएँ।

भावार्थ—हम अचञ्चलता, दृढ़ाङ्गता, कार्यव्याप्तता, शक्तिमत्ता=विघ्नों का दूरीकरण—हृदय की विशालता, उत्तम कार्यों में स्थिति तथा नेता के पालनात्मक गुणों को धारण करनेवाले बनें।

ऋषिः—चित्रः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराट्पथ्याबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

कल्याण-अहिंसा

शिवो भव प्रजाभ्यो मानुषीभ्यस्त्वमङ्गिरः।
मा द्यावापृथिवीऽअभि शोचीर्मान्तरिक्षं मा वनस्पतीन्॥४५॥

१. हे **अङ्गिरः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले! **त्वम्**=तू **मानुषीभ्यः प्रजाभ्यः**=मानव प्रजाओं के लिए **शिवः भव**=कल्याण करनेवाला हो। तेरा सारा व्यवहार ऐसा हो जिससे औरों का कल्याण-ही-कल्याण हो, अकल्याण नहीं। तू औरों का घात-पात करनेवाला न होकर औरों की रक्षा करनेवाला बन। २. तू **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **मा अभिशोचीः**=मत सन्तप्त कर **मा अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष को सन्तप्त मत कर, अर्थात् तीनों लोकों में रहनेवाले किसी भी प्राणी को तू दुःखी मत कर। तुझसे सभी का कल्याण ही हो। ३. प्राणियों की बात तो दूर तू **मा वनस्पतीन्**=वनस्पतियों की भी हिंसा मत कर। '**ओषध्यास्ते मूलं मा हिꣳसिषम्**'=इस उपदेश के अनुसार ओषधि के मूल को विच्छिन्न करनेवाला न बन। इनके लोम-नखरूप फल-फूलों का ही प्रयोग करनेवाला बन।

भावार्थ—त्रित (काम, क्रोध, लोभ-विजयी) का जीवन लोक-कल्याण के लिए ही होता है, अकल्याण के लिए नहीं।

ऋषिः—त्रितः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

तीन समुद्र

प्रैतु वाजी कनिक्रदन्नानदद्रासभः पत्वा। भरन्नग्निं पुरीष्यं मा पाद्यायुषः पुरा।
वृषाग्निं वृषणं भरन्नपां गर्भꣳसमुद्रियम्। अग्नऽआयाहि वीतये॥४६॥

१. **वाजी**=गत मन्त्र की भावना के अनुसार सबके साथ मधुरता से वर्त्तता हुआ, शाक-सब्जियों का प्रयोग करता हुआ यह शक्तिशाली जीव **प्रएतु**=आगे और आगे बढ़े। उन्नति-पथ पर बढ़ता चले। २. **कनिक्रदत्**=यजुर्मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ, **नानदत्**=साम-मन्त्रों की ध्वनिवाला, **रासभः**=ऋचाओं को बोलता हुआ, **पत्वा** (पद गतौ)=उनके अनुसार गति करके, अर्थात् उन यजुः, ऋक् व साम मन्त्रों को जीवन में क्रियान्वित करके, ३. **पुरीष्यम्**=सब सुखों का पूरण करनेवाली **अग्निम्**=अग्नि को, अर्थात् प्रभु को **भरन्**=अपने हृदय में भरण करता हुआ, ४. **आयुषः पुरा**=पूर्ण जीवन के अन्त से पहले **मा पादि**=यहाँ से मत जाए, अर्थात् पूरे सौ वर्ष तक जीनेवाला बने। ५. **वृषाः**=शक्तिशाली और अपनी

शक्ति से सबपर सुखों की वर्षा करनेवाला तू **वृषणं अग्निम्**=उस शक्ति व सुखों के वर्षक अग्रेणी प्रभु को **भरन्**=अपने अन्दर धारण करनेवाला बन। ६. उस प्रभु को जो **अपां गर्भः**=सब प्रजाओं को गर्भ में धारण करनेवाले हैं व **समुद्रियम्**=समुद्र में निवास करनेवाले हैं। 'त्रयो ह वै समुद्रा अग्निर्यजुषां महाव्रतं साम्नां महदुक्थमृचाम्' ऋक्, यजुः, साम ही तीन प्रकार के मन्त्र हैं जो ज्ञान के समुद्र हैं, इन सबमें परमात्मा का प्रतिपादन है, अतः प्रभु 'समुद्रिय' हैं। ७. इस समुद्रिय प्रभु को हे **अग्ने**=अग्रगति के साधक जीव! तू **आयाहि**=प्राप्त हो। जिससे तू **वीतये**=सुखों को व्याप्त और अज्ञानान्धकार को दूर कर सके।

भावार्थ—हम अपने जीवन में 'ऋक्-यजुः-साम' मन्त्रों को पढ़कर उनके अनुसार क्रिया करते हुए जीवन-यापन करें, प्रभु को अपने हृदयों में धारण करके पूर्ण आयुष्य का उपभोग करें। प्रभु से शक्ति प्राप्त करके प्रकाश को धारण करें।

ऋषिः—त्रितः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

ऋत-सत्य व पुरीष्य अग्नि

ऋ॒तꣳस॒त्यमृ॒तꣳस॒त्यम॒ग्निं पु॑री॒ष्य॑मङ्गिर॒स्व॒द्भरामः।
ओष॑धय॒ः प्रति॑मोदध्वम॒ग्निमे॒तꣳशि॒वमा॒यन्त॑म॒भ्यत्र॑ यु॒ष्माः।
व्यस्य॒न् विश्वा॒ऽअनि॑रा॒ऽअमी॑वा नि॒षीद॑न्नो॒ऽअप॑ दु॒र्म॒तिं ज॑हि ॥४७॥

१. गत मन्त्र के वर्णन के अनुसार प्रस्तुत मन्त्र में 'समुद्रिय'=प्रभु को धारण करनेवाले के जीवन का चित्रण करते हैं। इन व्यक्तियों का निश्चय होता है कि हम **ऋतम्**=जीवन की भौतिक क्रियाओं में ऋत (right) को, सामाजिक शक्तियों में **सत्यम्**=सत्य को और आध्यात्मिक जीवन में **ऋतं सत्यं अग्निं पुरीष्यम्**=ऋत और सत्य के उत्पत्ति स्थान, सब सुखों का पूरण करनेवाले अग्रेणी प्रभु को **भरामः**=धारण करते हैं और **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बनते हैं। वस्तुतः खाना-पीना, सोना-जागना आदि शारीरिक क्रियाएँ बिलकुल ठीक समय व स्थान पर हों, अर्थात् ऋत (right) हों, व्यवहार में सत्य होने से मन बिलकुल परिशुद्ध हो तथा उस ऋत और सत्य के उद्गम स्थान, सुखों के पूरक (पुरीष्य) प्रभु का स्मरण हो तो मनुष्य का अङ्ग-प्रत्यङ्ग सबल, सशक्त व सरस बना रहता है। २. एक बालक के जीवन को इस प्रकार का बनाने में आचार्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे आचार्य 'ओषधयाः' हैं, दोषों का दहन (उष दाहे) करनेवाले हैं। इन आचार्यों से कहते हैं कि **ओषधयः**=हे दोषों का दहन करनेवाले आचार्यो! **प्रतिमोदध्वम्**=आप आनन्दित होओ। **अत्र**=यहाँ **युष्माः अभि**=आपकी ओर (युष्मान्) **एतम्**=इस **शिवम्**=मङ्गल स्वभाववाले, जिसके अन्दर माता-पिता ने मङ्गलमयी वृत्ति पैदा करने का प्रयत्न किया है, **अग्निम्**=जो आगे बढ़ने की वृत्तिवाला है उसको **आयन्तम्** =आते हुए देखकर आप प्रसन्न हों। तैत्तिरीय उपनिषद् में आचार्य प्रार्थना करता है कि **'दमायन्तु मा ब्रह्मचारिणः स्वाहा क्षमायन्तु मा ब्रह्मचारिणः स्वाहा'** मुझे दम और क्षमवाले ब्रह्मचारी प्राप्त हों। इस प्रकार के विद्यार्थी का निर्माण आचार्य के लिए सुगम होता है। ३. विद्यार्थी कहते हैं कि हे आचार्य! **निषीदन्**=डाँवाँडोल न होते हुए—अवस्थित रूपवाले आप **विश्वाः**=सब **अनिरा** (अन्+इरा)=(इरा=godess of speech) ज्ञान की वाणियों की विरोधी **अमीवा**=बीमारियों को **व्यस्यन्**=हमसे दूर फेंकते हुए **नः**=हमसे **दुर्मतिम्**=दुर्मति को **अप जहि**=सुदूर विनष्ट कर दीजिए। ४. एवं, यदि आचार्य अपना यह कर्त्तव्य समझेंगे कि ज्ञान की विघ्नभूत सब बीमारियों को दूर रखना

है और सु-मति को उत्पन्न करना है तो आचार्य सचमुच 'ओषधि' होंगे, विद्यार्थियों के दोषों का दहन करेंगे और ऐसे स्नातकों के जीवन में 'ऋत, सत्य व पुरीष्य अग्नि' का वास होगा।

भावार्थ—हमारा जीवन भौतिक क्षेत्र में ऋतवाला, व्यावहारिक क्षेत्र में सत्यवाला तथा अध्यात्म में 'पुरीष्य अग्निवाला' हो।

ऋषिः—त्रितः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

आचार्यकुल से विद्यार्थी का समावर्तन

ओषधयः प्रतिगृभ्णीत पुष्पवतीः सुपिप्पलाः।
अयं वो गर्भऽऋत्वियः प्रत्नꣳसधस्थमासदत्॥४८॥

१. **ओषधयः**=हे दोषों का दहन करनेवाले आचार्यो! **पुष्पवतीः**=उत्तम पुष्पोंवाली **सुपिप्पलाः**=उत्तम फलोंवाली वाणियों को **प्रतिगृभ्णीत**=ग्रहण करो। **'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह, यज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा'** (नि० १।१८)। (क) अर्थ ही वाणी का पुष्पफल है। इस प्रकार आचार्य अर्थसहित वाणी का ज्ञान रखता है। (ख) अथवा 'यज्ञ' वाणी के पुष्प हैं और देवता उसके फल हैं, अतः आचार्य वाणी में निर्दिष्ट यज्ञों को करनेवाला और देवताओं के ज्ञान को प्राप्त करानेवाला है। (ग) अथवा देवताओं का, अर्थात् प्राकृतिक शक्तियों का ज्ञान वाणी का पुष्प है और अध्यात्म व ब्रह्म-ज्ञान वाणी का फल है। एवं, आचार्य अपरा व परा दोनों ही ज्ञानों को प्राप्त करानेवाला होता है। वह सम्पूर्ण ज्ञान का पारङ्गत है। ब्रह्मचर्यसूक्त में इसी दृष्टि से आचार्य को ज्ञान का समुद्र कहा है। २. आचार्य अपने समीप आये हुए विद्यार्थी को गर्भ में धारण करता है और उसे प्रकृति, जीव व परमात्मा का ज्ञान न होने तक, अर्थात् तीन रात्रियों तक उदर में धारण करता है। आचार्यों से कहते हैं कि **अयम्**=यह **वः**=आपका **गर्भः**=गर्भ में वास करनेवाला **ऋत्वियः**=समय पर दुबारा जन्म लेनेवाला ब्रह्मचारी है। **'तं जातं द्रष्टुं अभिसंयन्ति देवाः'**=इस उत्पन्न हुए विद्यार्थी को देखने के लिए बड़े-बड़े विद्वान् आते हैं। ३. अब यह विद्यार्थी आचार्यकुल से समावृत्त होकर घर में लौटता है और **प्रत्नम्**=अपने पुराने **सधस्थम्**=परिवार के व्यक्तियों के मिलकर ठहरने के स्थान में, अर्थात् पितृगृह में **आसदत्**=आसीन होता है। सारे अध्ययनकाल में २४, ४४ वा ४८ वर्ष इसका घर से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रहा था, कुल ही उसका घर बन गया था। आज वह फिर पुराने घर में लौटता है।

भावार्थ—आचार्य परा व अपरा विद्या में निपुण हैं। विद्यार्थी आचार्य के समीप विद्या-ग्रहण के काल तक रहता है। समावृत्त होकर पुराने पितृगृह में लौटता है।

ऋषिः—उत्कीलः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

प्रभु के नेतृत्ववाला उत्कील

वि पाजसा पृथुना शोशुचानो बाधस्व द्विषो रक्षसोऽअमीवाः।
सुशर्मणो बृहतः शर्मणि स्यामग्नेरहꣳसुहवस्य प्रणीतौ॥४९॥

१. आचार्यकुल में परा व अपरा विद्या का ज्ञान प्राप्त करके जब विद्यार्थी संसार में आता है तब हीन आकर्षणवाला नहीं बनता। इसकी रुचि उत्कृष्ट बनी रहती है और **उत्**=उत्कृष्ट लक्ष्य के साथ **कील**=अपने को बाँधनेवाला यह 'उत्कील' कहलाता है।

इस उत्कील से कहते हैं कि तू २. **पृथुना**=विस्तृत **पाजसा** =शक्ति से **विशोशुचानः**=विशेषरूप से खूब चमकता हुआ हो। शक्ति की क्षीणता हीनाकर्षण, भोगवृत्ति में ही है। 'उत्कील' भोगों की ओर नहीं झुकता परिणामतः विशिष्ट शक्ति से देदीप्यमान होता है। ३. तू अपने जीवन से **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं को **बाधस्व**=रोककर दूर रखनेवाला हो। द्वेषाग्नि में तूने जलते नहीं रहना। ४. **रक्षसः**=राक्षसी वृत्तियों को, अपने रमण के लिए औरों के क्षय की वृत्ति को तू अपने से दूर रख। अपनी स्वार्थहानि करके भी तू परार्थ को सिद्ध करनेवाला बन। ५. **अमीवाः**=तू सब शारीरिक रोगों को अपने से दूर रख। शारीरिक रोग तुझे आक्रान्त न कर पाएँ। ६. तेरी सदा एक ही आराधना हो कि उस **बृहतः**=(बृहि वृद्धौ) सब वृद्धियों के कारणभूत **सुशर्मणः**=उत्तम कल्याणमय प्रभु के **शर्मणि**=शरण में **स्याम्**=होऊँ। प्रभु ही मेरी शरण हों, प्रभु पर ही मुझे आस्था हो। मैं यथासम्भव ब्रह्मनिष्ठ बन पाऊँ। ८. **अहम्**=मैं **सुहवस्य**=शोभन पुकारवाले, सदा उत्तम प्रेरणा देनेवाले **अग्नेः**=उस अग्रेणी प्रभु के **प्रणीतौ**=प्रणयन में रहूँ, अर्थात् प्रभु जिधर ले-चलें उधर ही चलूँ। प्रभु नेता हों, मैं उनका अनुयायी होऊँ।

भावार्थ—उत्कृष्ट बन्धनवाला बनकर मैं शक्ति से चमकूँ। द्वेष, हिंसा व रोगों से दूर रहूँ। प्रभु की शरण में मेरा वास हो। प्रभु नेता हों मैं उनका अनुयायी बनूँ।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

मयोभुवः आपः

आपो॒ हि ष्ठा म॑यो॒भुव॒स्ता न॑ऽऊ॒र्जे द॑धातन। म॒हे रणा॑य॒ चक्ष॑से ॥५०॥

१. 'उत्कील' गत मन्त्र का ऋषि था। उत्कील बनने के लिए यह जलों का ठीक प्रयोग करके जीवन को सौम्य बनाने का प्रयत्न करता है। इन स्यन्दमान जलों का **द्वि**=दो प्रकार से प्रयोग करने से यह 'सिन्धु द्वीप' कहलाता है (सिन्धवः द्विर्गता आपो यस्मिन्)। जलों का बाह्य व अन्तः समुचित प्रयोग करके यह जीवन को बहुत ही सुन्दर बनाता है। यह कहता है कि २. **आपः**=जल **हि**=निश्चय से **मयोभुवः**=कल्याण उत्पन्न करनेवाले **ष्ठाः**=हैं। **ताः**=वे जल **नः**=हमें **ऊर्जे**=बल और प्राणशक्ति में **दधातन**=धारण करें। **महे रणाय चक्षसे**=महान् रमणीय दर्शन, अर्थात् ब्रह्मदर्शन के लिए धारण करो, अर्थात् जलों के प्रयोग से जहाँ ऐहिक लाभ होता है और हमारे शरीर नीरोग व शक्ति-सम्पन्न बनते हैं, वहाँ इनका समुचित प्रयोग हमें आमुष्मिक लाभ भी प्राप्त कराता है और हम उस महान् रमणीय ब्रह्म का दर्शन करनेवाले होते हैं। ३. अथवा ये जल हमें (क) **महे**=महत्त्व के लिए धारण करें, हमारे शरीर का उचित भार बढ़ानेवाले हों। (ख) **रणाय**=रमणीयता के लिए हों, स्वास्थ्य का सौन्दर्य देनेवाले हों अथवा (रण शब्दे) शब्दशक्ति को बढ़ानेवाले हों, तथा दोष को दूर करें। (ग) और **चक्षसे** =हमारी दृष्टिशक्ति को ठीक करनेवाले हों।

भावार्थ—जलों का ठीक प्रयोग हमारा कल्याण करनेवाला है। हमें बल व प्राणशक्ति देनेवाला है, भार को ठीक करता है, शब्दशक्ति को बढ़ाता है और दीर्घदृष्टि देता है।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

शिवतम-रस

यो वः॑ शि॒वत॑मो॒ रस॒स्तस्य॑ भाजयते॒ह नः॑। उ॒श॒तीरि॑व मा॒तरः॑ ॥५१॥

१. हे जलो! **यः**=जो **वः**=तुम्हारा **शिवतमः रसः**=अत्यन्त कल्याणकर रस है **तस्य**=

उस रस का **नः**=हमें **इह**=इस मानव-जीवन में **भाजयत**=भागी बनाओ। हे जलो! **उशतीः**=सन्तान के भले की कामना करती हुई **मातरः इव**=माताओं के समान तुम हमारे लिए होओ। २. यहाँ 'रसः' शब्द का प्रयोग बड़ा सुन्दर संकेत कर रहा है कि हमें जल का रस लेना है, बड़ा स्वाद लेकर धीमे-धीमे उसे पीना है, उसे अपने अन्दर उलट नहीं लेना। 'We must eat water' अर्थात् 'हमें पानी को खाना चाहिए' इस वाक्य की भावना यही है। इस प्रकार जलों का रस ग्रहण करेंगे तो ये जल हमारे लिए माताओं के समान हितकर होंगे।

भावार्थ—हम जलों का आचमन करें। धीमे-धीमे पीएँ, तभी जल हितकर होंगे।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

जनयथा

तस्माऽअरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः ॥५२॥

१. हे जलो! **वः**=आपके **तस्मै**=उस रस को पाने के लिए **अरम्**=पर्याप्त **गमाम**=जानेवाले हों, अर्थात् उस रस को ख़ूब ही प्राप्त करें, **यस्य क्षयाय**=(क्षयेण) जिस रस के निवास के कारण **जिन्वथ**=तुम प्रीणित करते हो, तृप्त करते हो। जलों में एक रस है जो एक अद्भुत तृप्ति अनुभव कराता है। शुद्ध जल से प्राप्त होनेवाली यह तृप्ति अन्य कितने भी स्वादिष्ट पेय-द्रव्यों से प्राप्त नहीं होती **'अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा'**। २. **च**=और हे **आपः**=जलो! आप **नः**=हमें **जनयथ**=जननशक्ति से युक्त करो अथवा शक्तियों के प्रादुर्भाववाला करो। स्पष्ट है कि जलों के समुचित प्रयोग से जहाँ तृप्ति अनुभव होती है वहाँ ये जल हमारी शक्तियों का विकास करनेवाले होते हैं और जननशक्ति की हीनता को दूर करते हैं।

भावार्थ—ये जल अपने अद्भुत रस से हमें प्रीणित करते हैं और शक्तियों के विकास के कारणभूत होकर जननशक्तियुक्त करते हैं।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—मित्रः। **छन्दः**—उपरिष्टाद्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

सुजात

मित्रः संसृज्य पृथिवीं भूमिं च ज्योतिषा सह।
सुजातं जातवेदसमयक्ष्माय त्वा संसृजामि प्रजाभ्यः ॥५३॥

१. प्रभु सिन्धुद्वीप से कहते हैं कि तू **पृथिवीम्**=इस विस्तृत हृदयान्तरिक्ष (प्रथ विस्तारे) को **भूमिं च**=और जिसमें मनुष्य बना ही रहता है (भवन्ति यस्यां सा भूमिः), अर्थात् स्वस्थ शरीर को **ज्योतिषा**=मस्तिष्क में होनेवाली ज्ञान की ज्योति के **सह**=साथ **संसृज्य**=मिलाकर **मित्रः**=(प्रमीतेः त्रायते) मृत्यु व रोगों से अपने को बचानेवाला हुआ है। जब मनुष्य हृदय, शरीर व मस्तिष्क तीनों का समानरूप से ध्यान करता है, तभी वह पूर्ण स्वस्थ बन पाता है। २. **सुजातम्**=उत्तम प्रादुर्भाववाले, अर्थात् शरीर, मन व मस्तिष्क के समविकासवाले **जातवेदसम्**=पर्याप्त धनवाले को (वेदस्=धन, 'विद्' लाभे) **अयक्ष्माय**=यक्ष्मादि रोगों का शिकार न होने देनेवाला करता हूँ। संसार में पूर्ण स्वास्थ्य के लिए उचित धन भी आवश्यक है, क्योंकि निर्धनता मनुष्य की चिन्ताओं का कारण बन, उसे क्षीणशक्ति कर देती है। ३. **त्वा**=तुझ स्वस्थ व्यक्ति को **प्रजाभ्यः**=प्रजाओं के लिए **संसृजामि**=संसृष्ट करता हूँ, अर्थात् तेरा जीवन प्रजाओं के हित के लिए हो।

भावार्थ—१. मनुष्य विशाल हृदय, स्वस्थ शरीर व ज्योतिर्मय मस्तिष्कवाला बनकर नीरोग व निष्पाप बनता है। २. यह समविकासवाला व्यक्ति उचित धन प्राप्त करके पूर्ण नीरोग होता है। ग़रीबी भी तो एक रोग ही है। ३. इस व्यक्ति को चाहिए कि अब लोकहित के कार्यों में संलग्न रहे।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

बृहत् ज्योतिः—शुक्रः

रुद्राः सꣳसृज्य पृथिवीं बृहज्ज्योतिः समीधिरे।
तेषां भानुरजस्रऽइच्छुक्रो देवेषु रोचते॥५४॥

१. **रुद्राः**=वासनाओं के लिए प्रलयंकर रुद्र बने हुए लोग अथवा (रोरूयमाणो द्रवति) निरन्तर प्रभु का नामोच्चारण करके कार्यों में तत्पर हुए लोग **पृथिवीम्**=(प्रथ विस्तारे) विस्तृत हृदयान्तरिक्ष से **संसृज्य**=संसृष्ट होकर, विशाल हृदय से युक्त होकर, उस पवित्र हृदय में **बृहत् ज्योतिः**=उस सदा बढ़ी हुई ज्योति, अर्थात् परमात्म-ज्योति को **समीधिरे**=सम्यक्तया समिद्ध करते हैं, अर्थात् विशालता से पवित्र हुए अपने हृदय में उस प्रभु की ज्योति को देखने का प्रयत्न करते हैं। २. **तेषाम्**=इन परमात्मदर्शियों का **भानुः**=ज्ञान का प्रकाश **इत्**=निश्चय से **अजस्रः**=निरन्तर होता है। इनके ज्ञान पर वासना का आवरण नहीं आता। ३. **शुक्रः**=यह अनावृत ज्ञानवाला पुरुष **देवेषु**=विद्वानों में भी **रोचते**=चमकता है। 'शुक्र' शब्द के दो अर्थ हैं 'शुच् दीप्तौ'=(क) इसका ज्ञान चमकता हुआ होता है और (ख) (शुक् गतौ) यह शीघ्रता से कार्य करनेवाला होता है। वस्तुतः यह ज्ञान और कर्म का समन्वय ही इसे देवों में भी देदीप्यमान करता है **'यस्तु क्रियावान् पुरुषः स पण्डितः'** (क्रियावान् पुरुष ही पण्डित है)—इस उक्ति के अनुसार 'शुक्र' बनना आवश्यक है। ४. यह शुक्र अपने जीवन में 'शुक् गतौ' शरीर की क्रिया को, (शुचि=पवित्र) हृदय की पवित्रता को तथा 'शुक् दीप्तौ' मस्तिष्क की दीप्ति को समन्वित करके चलता है।

भावार्थ—१. वासनाओं को नष्ट करके हम पवित्र हृदय में प्रभु की ज्योति जगाएँ। २. उस ज्योति के जगने पर हमारा यह प्रकाश अविच्छिन्न हो, सतत रहनेवाला हो। ३. हम क्रियाशील, पवित्र व दीप्त बनकर देवों में भी शोभा पाएँ।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—सिनीवाली। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

सिनीवाली

सꣳसृष्टां वसुभी रुद्रैर्धीरैः कर्मण्यां मृदम्।
हस्ताभ्यां मृद्वीं कृत्वा सिनीवाली कृणोतु ताम्॥५५॥

१. जीवन को गत मन्त्र के अनुसार बनाने की इच्छावाला वह पुरुष जो स्वयं **कृत्वा**=(करोति=कृ+वन्) बड़ा क्रियाशील है वह, जो **सिनीवाली**=(चन्द्रकलायुक्त अमावास्या-भिमानिनी देवता) सदा आह्लाद की मनोवृत्ति से युक्त, कभी भी पति को न त्यागनेवाली, सदा साथ (अमा) रहनेवाली (वसु) तथा (सिन=अन्न, वल्=to increase) घर में अन्न को बढ़ानेवाली, न कि कपड़ों व अन्य टीप-टाप पर अधिक व्यय कर देनेवाली है **ताम्**=उसे **कृणोतु**=अपनी पत्नी बनाएँ। पत्नी कितनी भी अच्छी हो, पर पति को स्वयं भी **कृत्वा**=क्रियाशील होना है तभी उन्नति करना सम्भव होगा। २. कैसी कन्या को पत्नी बनाएँ? (क) **वसुभिः**

संसृष्टाम्=जो ब्रह्मचर्यकाल में वसुओं के सम्पर्क में आई है। वसु वे विद्वान् हैं जो मुख्यरूप से इस बात का ज्ञान देते हैं कि निवास के लिए क्या-क्या करना चाहिए, किन-किन बातों से बचना चाहिए तथा हमारा भोजनाच्छादन कैसा हो, जिससे हम रोगों से बचे रहें। संक्षेप में वसु वे हैं जो आयुर्वेद के आचार्य हैं। पत्नी के लिए आयुर्वेद का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि नीरोगता के दृष्टिकोण से घर का सारा प्रबन्ध उसी ने करना है। जो (ख) **रुद्रैः संसृष्टाम्**=वासनाओं का विनाश करने के लिए, मन को उत्तम बनाने के लिए उपदेश देनेवाले के सम्पर्क में आई है। पत्नी वही ठीक है जो कि वासनाओं से मुक्त होती है। (ग) **धीरैः संसृष्टाम्**=(धी+र) जो आत्म-ज्ञान देनेवालों के सम्पर्क में आई है, ऐसी पत्नी भोगप्रधान जीवनवाली न होगी। ३. **कर्मणाम्**=कर्मनिष्ठ, सदा क्रियाशील जीवन बितानेवाली को पत्नी बनाएँ। अकर्मण्य व आलस्य के स्वभाववाली गृहिणी वैषयिक वृत्ति होती है तथा उसका शरीर भी नीरोग नहीं होता। ४. **मृद्वीम्**=(Mild) कोमल स्वभाववाली को पत्नी बनाएँ। **हस्ताभ्याम्**=(हन् हिंसागत्योः) जो मार्ग में आये विघ्नों को विनष्ट करती हुई आगे बढ़ती है और विघ्ननाश व अग्रगति के गुणों के कारण मृद्वी=बड़े कोमल स्वभाववाली है। अकर्मण्य स्त्री अधिक बोलनेवाली व कर्कश स्वभाववाली होती है। उसके साथ तो गृहस्थ नरक-सा बन जाएगा।

भावार्थ—पत्नी वही ठीक है जो आयुर्वेद, मनोविज्ञान व आत्मविज्ञान का अध्ययन किये हुए है, जो क्रियाशील, कोमल स्वभाववाली है, सदा प्रसन्न रहनेवाली तथा घर में अन्न की वृद्धि करनेवाली है।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—अदितिः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

उखां दधातु

सिनीवाली सुकपर्दा सुकुरीरा स्वौपशा।
सा तुभ्यमदिते मह्योखां दधातु हस्तयोः॥५६॥

१. **सिनीवाली**=आह्लादयुक्त मनोवृत्तिवाली, सदा पति के साथ रहनेवाली **सुकपर्दा**=(सु-कस्य परम्=पूर्तिं ददाति) उत्तमता से सुख की पूर्ति करनेवाली, अर्थात् घर के वातावरण को सदा सुखद बनाये रखनेवाली **सुकुरीरा**=उत्तम शब्दों को देनेवाली, अर्थात् **'जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवान्'**=पत्नी पति के लिए माधुर्यमयी, शान्ति देनेवाली वाणी बोले' इस मन्त्र के अनुसार सदा मधुर शब्दों को बोलनेवाली तथा **स्वौपशा**=(सु आ उप श) उत्तमता से, सब प्रकार से पति के समीप ही निवास करनेवाली, अर्थात् छोटी-छोटी बातों के कारण मायके न भाग जानेवाली **सा**=वह पत्नी, हे **महि अदिते**=महनीय अखण्डन की देवते! महत्त्वपूर्ण स्वास्थ्य की देवते। **तुभ्यम्**=तेरे लिए **उखाम्**=पतीली को **हस्तयोः**=अपने हाथों में **आदधातु**=धारण करे। २. 'पतीली को अपने हाथों में धारण करे' का अभिप्राय यह है कि रसोई के काम को नौकरों के हाथ में न सौंप दे। वस्तुतः स्वास्थ्य भोजन पर ही निर्भर है, अतः भोजन के विभाग को पत्नी ने स्वयं सँभालना है। नौकरों के बने भोजन में वह प्रेम नहीं होता जो पत्नी के हाथ से बने भोजन में उपलभ्य होता है। ३. भोजन को बनानेवाली यह पत्नी आह्लादमय मनोवृत्तिवाली है (सिनीवाली), उत्तम स्वास्थ्यप्रद भोजन से यह स्वास्थ्य के सुख को देनेवाली है (सुकपर्दा) भोजनादि परोसने के समय शुभ शब्दों का ही प्रयोग करनेवाली है (सुकुरीरा) सदा पति का साथ देनेवाली है (स्वौपशा)।

भावार्थ—पत्नी को भोजन का विभाग सदा अपने हाथ में रखना चाहिए। इसे नौकरों को नहीं सौंप देना चाहिए।

सूचना—आचार्य दयानन्द ने 'स्वौपशा' का अर्थ 'भोजन के अच्छे पदार्थ बनानेवाली' किया है। उव्वट ने अर्थ किया है—'उत्तम अवयवोंवाली'।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—अदितिः। **छन्दः**—भुरिग्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

मखस्य शिरः

उखां कृणोतु शक्त्या बाहुभ्यामदितिर्धिया।
माता पुत्रं यथोपस्थे साग्निं बिभर्तु गर्भऽआ। मखस्य शिरोऽसि॥५७॥

१. गत मन्त्र की सिनीवाली **उखाम्**=पाकस्थाली को **शक्त्या**=शक्ति के दृष्टिकोण से **कृणोतु**=करे, अर्थात् जिन भी भोजनों का परिपाक करे उनमें दृष्टिकोण शक्ति का हो। भोजन का मापक स्वाद व सौन्दर्य न हो, अपितु पौष्टिकता हो। ३. **अदितिः**=घर में सबके स्वास्थ्य को अखण्डित रखनेवाली यह गृहिणी **बाहुभ्याम्**=अपने हाथों से **धिया**= बुद्धिपूर्वक **कृणोतु**=इस पाक को करे। 'बुद्धिपूर्वक करे' का अभिप्राय यह कि समझदारी से ऋतुओं के अनुसार भोजन बनाये। ऋतुओं का विचार न करके बनाया गया भोजन स्वास्थ्य को विकृत ही तो करेगा। ३. **माता**=माता **पुत्रम्**=पुत्र को **यथा**=जैसे **उपस्थे**=गोद में धारण करती है, इसी प्रकार **सा**=वह गृहिणी **अग्निम्**=इस पाकाग्नि को **गर्भे**=अपने गर्भ में **आबिभर्तु**=धारण करे। माता को पुत्र प्रिय होता है, गृहिणी को पाकाग्नि प्रिय हो, वह भोजन को प्रेम से बनाती हो, उसे बेगार न समझती हो। ४. हे गृहिणि! वस्तुतः तू ही **मखस्य**=इस गृहस्थ-यज्ञ का **शिरः असि**=सिर है। इसका निर्भर तुझपर ही है। घर में प्रधान-स्थान पत्नी का ही होता है, वह जैसा चाहे घर को बना सकती है। तामस् भोजनों के द्वारा वह सबकी वृत्ति को तामसी, राजसी भोजनों से वृत्तियों को राजसी, सात्त्विक भोजनों से वह सबके अन्तःकरणों को शुद्ध और पवित्र कर देती है। इसप्रकार घर में सर्वोपरि स्थान पत्नी का ही है। इस गृहस्थ-यज्ञ की मूल-सञ्चालिका वही है।

भावार्थ—१. पत्नी भोजनों को शक्ति के दृष्टिकोण से बनाये। २. अपने हाथों से बुद्धिपूर्वक भोजनों को बनाती हुई यह सबको स्वस्थ रखती है। ३. माता पाकाग्नि को अत्यन्त प्रिय वस्तु समझे, भोजन बनाने में उसे आनन्द आता हो। ४. सबके स्वास्थ्य की साधिका होने से पत्नी गृहस्थ-यज्ञ की मूर्धन्य है।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—वसुरुद्रादित्यविश्वेदेवाः। **छन्दः**—स्वराट्सङ्कृतिः[क], अभिकृतिः[ख]। **स्वरः**—गान्धारः[क], ऋषभः[ख]॥

पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः-दिशाः

[क]वसवस्त्वा कृण्वन्तु गायत्रेण छन्दसाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवासि पृथिव्यसि धारया मयि प्रजाꣳरायस्पोषं गौपत्यꣳसुवीर्यꣳसजातान्यजमानाय रुद्रास्त्वा कृण्वन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवास्यन्तरिक्षमसि धारया मयि प्रजाꣳरायस्पोषं गौपत्यꣳसुवीर्यꣳसजातान्यजमानायाऽऽ[ख]दित्यास्त्वा कृण्वन्तु जागतेन छन्दसाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवासि द्यौरसि धारया मयि प्रजाꣳरायस्पोषं

गौपत्यꣳसुवीर्यꣳसजातान्यजमानाय विश्वे त्वा देवा वैश्वानराः कृण्वन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वद् ध्रुवासि दिशोऽसि धारया मयि प्रजाꣳरायस्पोषं गौपत्यꣳसुवीर्यꣳ सजातान्यजमानाय ॥५८॥

१. हे पत्नि! **वसवः**=उत्तम निवास देनेवाले, आयुर्वेद के विद्वान् आचार्य **त्वा**=तुझे **गायत्रेण छन्दसा**=प्राणरक्षण की इच्छा से (गयाः प्राणाः, त्र=रक्षा) **अङ्गिरस्वद्**=अङ्गिरा की भाँति, अर्थात् एक-एक अङ्ग में रसवाला **कृण्वन्तु**=करें, अर्थात् तू वसुओं के सम्पर्क में आकर आयुर्वेद को समझने के कारण सशक्त अङ्गोंवाली है, तेरा खान-पान प्राणशक्ति की रक्षा के दृष्टिकोण से होता है। **ध्रुवा असि**=तू इस पतिकुल में ध्रुव होकर रहनेवाली है। **पृथिवी असि**=विस्तृत हृदयान्तरिक्षवाली है। (क) **मयि**=मुझमें **प्रजाम्**=प्रजा को **धारय**=धारण कर, अर्थात् गृहस्थ में हम दोनों के प्रवेश का उद्देश्य उत्तम सन्तान का निर्माण ही हो। (ख) **रायस्पोषम्** (धारय)=धन के पोषण को धारण करनेवाली हो। यह धन का पोषण तेरी मितव्ययिता से ही तो होगा। तेरा सारा व्यवहार 'समृद्धिकरण' होना चाहिए। (ग) **गौपत्यम्** (धारय)=तू गौपत्य को धारण कर। तेरी सहायता से मैं गोपति बनूँ, घर में गौ रखनेवाला बनूँ अथवा 'गावा इन्द्रियाणि' इन्द्रियों का पति, जितेन्द्रिय बन सकूँ। (घ) **सुवीर्यम्** (धारय)=जितेन्द्रियता के द्वारा तू उत्तम वीर्य को मुझमें धारण कर। (ङ) **यजमानाय** =यज्ञ के स्वभाववाले मेरे लिए **सजातान्**=मेरे सजातों को भी, बिरादरी के लोगों को भी तू धारण कर। जब पति यज्ञ के स्वभाववाला होगा तो सबसे मेल-जोल के कारण उनका धारण (खिलाना-पिलाना) भी आवश्यक हो जाता है। २. **रुद्राः**=(रोरूयमाणो द्रवति) प्रभु-नाम के धारणपूर्वक वासनाओं को विनष्ट करनेवाले **त्वा**=तुझे **त्रैष्टुभेन छन्दसा**=काम, क्रोध व लोभ को रोकने की इच्छा से **अङ्गिरस्वत्**=एक-एक अङ्ग में रसवाला **कृण्वन्तु**=करें। **ध्रुवा असि**=तू पतिकुल में ध्रुव होकर रहनेवाली है, **अन्तरिक्षम् असि** =सदा मध्यमार्ग पर चलनेवाली है। **मयि**=मुझमें **प्रजां धारय**=प्रजा को धारण कर, सन्तान को जन्म दे। **रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्यम्**=धन के पोषण को, जितेन्द्रियता को, उत्तम वीर्य को धारण कर। **यजमानाय**=मुझ यजमान के लिए **सजातान्**=सजातों को धारण कर। ३. **आदित्याः**=सूर्य के समान ज्योति को-ब्रह्म-ज्ञान को अपने अन्दर लेनेवाले आदित्य ब्रह्मचारी आचार्य तुझे **जागतेन छन्दसा**=जगती के हित की इच्छा से **अङ्गिरस्वत्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला करें। **ध्रुवा असि**=तु ध्रुवा है। **द्यौः असि**=प्रकाशमय जीवनवाली है, क्रीड़ादि स्वभाववाली है, तत्त्व को समझने के कारण सब बातों को sportsman like spirit में लेनेवाली है। **मयि प्रजां धारय**=मुझमें सन्तान को धारण कर। **रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्यम्**=धन के पोषण को, जितेन्द्रियता को तथा उत्तम वीर्य को धारण कर। **यजमानाय सजातान्** (धारय)=मुझ यजमान के लिए मेरी बिरादरीवालों का उचित आतिथ्य करनेवाली बन। ४. **विश्वे देवाः**=सब देव, **वैश्वानराः**=जो सब मनुष्यों का हित करनेवाले हैं, वे **त्वा**=तुझे **आनुष्टुभेन छन्दसा**=अनुक्षण प्रभु-स्मरण की इच्छा से **अङ्गिरस्वत्** =सरस अङ्गोंवाला करें। **ध्रुवा असि**=तू ध्रुवा है। **दिशः असि**=तू उत्तम निर्देशोंवाली-उत्तम सलाह देनेवाली है। सभी आनेवाले लोगों को उचित निर्देश देनेवाली है। **मयि प्रजां धारय**=मुझमें सन्तान को धारण कर। **रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्यम्**=धन के पोषण को, जितेन्द्रियता को, उत्तम वीर्य को धारण कर। **यजमानाय**=मुझ यज्ञशील के लिए **सजातान्**=सब बिरादारीवालों का धारण कर।

भावार्थ-पत्नी विशाल हृदयान्तरिक्षवाली, मध्यमार्ग पर चलनेवाली, प्रकाशमय

जीवनवाली तथा सभी को उचित निर्देश देनेवाली हो।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। देवता—अदितिः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

अदिति की रास्ना

अदित्यै रास्नास्यदितिष्टे बिलं गृभ्णातु। कृत्वाय सा महीमुखां मृन्मयीं योनिमग्नये। पुत्रेभ्यः प्रायच्छददितिः श्रपयानिति॥५९॥

१. हे पत्नि! तू **अदित्यै**=अदिति के लिए **रास्ना**=मेखला है, अर्थात् अदिति बनने के लिए कटिबद्ध है। तुझे 'अदीना देवमाता' बनना है, सब प्रकार की दीनताओं से ऊपर दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाली बनना है। २. अब पिता सन्तान से कहता है कि **अदितिः**=यह अदीना देवमाता **ते**=तेरे **बिलम्**=(भरण—द०) भरण-पोषण को **गृभ्णातु**=स्वीकार करे, अर्थात् तेरा ऐसी उत्तमता से पालन करे कि तू सब रोगों से मुक्त, पूर्ण स्वस्थ हो और तुझमें अदीनता व दिव्य गुणों का विकास हो। ३. **सा अदितिः**=वह अदिति माता **महीम्**= अत्यन्त महत्त्वपूर्ण **उखाम्**=पाकस्थाली **कृत्वाय**=करके तथा **मृन्मयीम्**=मिट्टी के बने हुए **अग्नये योनिम्**=अग्नि के लिए स्थान को, अर्थात् चूल्हे को **कृत्वाय**=करके **पुत्रेभ्यः**=पुत्रों के लिए उत्तम भोजन को **प्रायच्छत्**=देती है, **श्रपयान् इति**=जिससे उनका ठीक परिपाक हो सके। ४. सन्तानों के जीवन का निर्माण बहुत कुछ भोजन पर निर्भर है। उस भोजन के परिपाक को गृहपत्नी अत्यन्त महत्त्व देती है। बच्चों की माता इस बात के लिए कटिबद्ध हो कि मैंने 'अदिति' बनना है। (क) सन्तानों के स्वास्थ्य को कभी खण्डित नहीं होने देना है, (ख) उन्हें अदीन बनाना है, (ग) उनमें दिव्य गुणों का पोषण करना है।

भावार्थ—माता का मुख्य कर्त्तव्य बच्चों को स्वस्थ बनाना तथा उनके जीवन का उत्तम परिपाक करना है। इसी दृष्टिकोण से वह भोजन को महत्त्व देती है, क्योंकि भोजन ने ही उनके शरीर व मनों को स्वस्थ करना है।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। देवता—वस्वादयो मन्त्रोक्ताः। छन्दः—स्वराट्संकृतिः। स्वरः—गान्धारः॥

धूपन (जितेन्द्रियता-निर्द्वेषता)

वसवस्त्वा धूपयन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वद् रुद्रास्त्वा धूपयन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदादित्यास्त्वा धूपयन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वद् विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा धूपयन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदिन्द्रस्त्वा धूपयतु वरुणस्त्वा धूपयतु विष्णुस्त्वा धूपयतु॥६०॥

१. हे जीव! **वसवः**=आयुर्वेद के आचार्य, उत्तम निवास का मार्ग सिखानेवाले विद्वान् **त्वा**=तुझे **गायत्रेण छन्दसा**=प्राण-रक्षण की इच्छा से **धूपयन्तु**=संस्कृत करें, धूपित करें। जैसे धुआँ देकर किसी कमरे का संस्कार किया जाता है और उसके अन्दर होनेवाले रोगकृमियों को नष्ट कर दिया जाता है, इसी प्रकार प्राण-शक्ति के रक्षण की प्रबल इच्छा तेर शरीर को संस्कृत करे, उसमें किसी प्रकार की अशुभ वासनाएँ न रहने से नीरोगता का निवास हो। तू **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बन। २. **रुद्राः**=(रोरूयमाणो द्रवति) प्रभु नामोच्चारण द्वारा वासनाओं पर आक्रमण करनेवाले आचार्य **त्वा**=तुझे **त्रैष्टुभेन छन्दसा**=काम, क्रोध व लोभ को रोकने की इच्छा से **धूपयन्तु**=संस्कृत करें, जिससे तू **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बन पाये। तेरा प्रत्येक अङ्ग जीवनी-शक्ति के रस के सञ्चारवाला हो। ३.

आदित्याः=सूर्य समान ब्रह्म-ज्योति को धारण करनेवाले आचार्य **त्वा**=तुझे **जागतेन छन्दसा**=जगती के हित की कामना से **धूपयन्तु**=संस्कृत करें। तू **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बन। ४. **वैश्वानराः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले **विश्वेदेवाः**=सब देव **त्वा**=तुझे **आनुष्टुभेन छन्दसा**=अनुक्षण प्रभु-स्तवन की इच्छा से **धूपयन्तु**=संस्कृत करें, जिससे तू **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बने। ५. (क) **इन्द्रः**=जितेन्द्रियता की वृत्ति **त्वा**=तुझे **धूपयतु**=संस्कृत करे। (ख) **वरुणः**=द्वेष-निवारण की वृत्ति **त्वा**=तुझे **धूपयतु**=संस्कृत करे। (ग) **विष्णुः त्वा धूपयतु**=हृदय की विशालता तुझे संस्कृत करे। जीवन को पवित्र बनाने के लिए जितेन्द्रियता, द्वेष-निवारण तथा हृदय की विशालता तीनों आवश्यक हैं।

भावार्थ—'प्राण-रक्षण की इच्छा, काम-क्रोध-लोभ को रोकने की इच्छा, लोकहित की भावना, अनुक्षण प्रभु-स्तवन की इच्छा, जितेन्द्रियता, निर्द्वेषता तथा विशालता' ये बातें मानव-जीवन को संस्कृत करती हैं।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—अदित्यादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—भुरिक्कृतिः[क], निचृत्प्रकृतिः[ख]। **स्वरः**—निषादः[क], धैवतः[ख]॥

प्रभु-दर्शन किसे?

[क]अदितिष्ट्वा देवी विश्वदेव्यावती पृथिव्याः सधस्थेऽअङ्गिरस्वत् खनत्ववट देवानां त्वा पत्नीर्देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थेऽअङ्गिरस्वद्दधतूखे धिषणास्त्वा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थेऽअङ्गिरस्वदभीन्धतामुखे वरूत्रीष्ट्वा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थेऽअङ्गिरस्वच्छ्रपयन्तूखे ग्नास्त्वा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थेऽअङ्गिरस्वत्पचन्तूखे जनयस्त्वाऽछिन्नपत्रा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थेऽअङ्गिरस्वत्पचन्तूखे ॥६१॥

१. हे **अवट**=(वट परिभाषणे) अपरिभाषित, अनिन्दित (Parliamentary भाषा में named=परिभाषित) पूर्ण प्रशस्त प्रभो! **त्वा**=आपको **अदितिः**=अदीना देवमाता **देवी**=दिव्य गुणोंवाली **विश्वदेव्यावती**=सब दिव्यताओं की रक्षा करनेवाली **पृथिव्याः**=इस विशाल हृदयाकाश के **सधस्थे**=एकत्र स्थित होने के स्थान में **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति **खनतु**=खोजे। 'अङ्गिरस्' हृदयदेश में प्रभु का दर्शन करता है, इसी प्रकार यह अदीन बनकर, दिव्य गुणों के निर्माण व रक्षणवाली बनकर उस प्रभु को देखती है। २. **उखे**= (उत्खन्यते इति उत्खा=उखा, परोक्षप्रियत्वात् देवानाम्) अन्नमयादि कोशों को उखाड़ते-उखाड़ते अन्त में आनन्दमयकोश में दिखने योग्य प्रभो! **त्वा**=आपको **देवानां पत्नी**=देवों की पत्नियाँ, **देवीः**=प्रकाशमय जीवनवाली **विश्वदेव्यावतीः**=सब दिव्यताओं की रक्षा करनेवाली स्त्रियाँ **पृथिव्याः सधस्थे**=विशाल हृदयदेश के एकत्र स्थित होने के स्थान में **अङ्गिरस्वत्**= अङ्गिरस् की भाँति **दधतु**=धारण करें। ३. हे **उखे**=एक-एक कोश को खोजते-खोजते अन्त में आनन्दमयकोश में दिखनेवाले प्रभो! **त्वा**=तुझे **धिषणाः**=बुद्धि की पुञ्जभूत **देवीः**=प्रकाशमय जीवनवाली **विश्वदेव्यावतीः**= सब दिव्यताओं की रक्षा करनेवाली स्त्रियाँ, **पृथिव्याः सधस्थे**=विशाल हृदयाकाश के एकत्र स्थित होने के स्थान में **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति **अभीन्धताम्**=दीप्त करें। ४. हे **उखे**=प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठकर (उत्) खोजने योग्य (खन्) प्रभो! **त्वा**=आपको

वरूत्रीः=द्वेषादि का निवारण करनेवाली और इस प्रकार **देवीः**=प्रकाशमय जीवनवाली **विश्वदेव्यावतीः**=सब दिव्यताओं की रक्षा करनेवाली स्त्रियाँ **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति **श्रपयन्तु**=परिपाक करें। अपने हृदय में तेरी ही भावना को दृढ़मूल करें। ५. **उखे**=हे भोगों से ऊपर उठकर खोजने योग्य प्रभो! **त्वा**=आपको **ग्नाः**=छन्दों का अध्ययन करनेवाली देवपत्नियाँ **देवीः**=प्रकाशमय जीवनवाली **विश्वदेव्यावतीः**=सब दिव्यताओं की रक्षा करनेवाली **पृथिव्याः**=विशाल हृदयान्तरिक्ष के **सधस्थे**=एकत्र स्थित होने के स्थान में **पचन्तु**=विकसित (Develop) करती हैं, अर्थात् उस प्रभु के प्रकाश को अधिकाधिक देखती हैं और **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बनने का प्रयत्न करती हैं। ६. हे **उखे**=आत्मन्! **त्वा**=आपको **जनयः**=उत्तम माता बननेवाली **अच्छिन्नपत्राः**=अविच्छिन्न गतिवाली (पत् गतौ) अर्थात् निरन्तर क्रियाशील **देवीः**=प्रकाशमय जीवनवाली **विश्वदेव्यावतीः**=सब दिव्यताओं की रक्षा करनेवाली **पृथिव्याः सधस्थे**=इस विस्तृत हृदयान्तरिक्ष के सहस्थान में **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति **पचन्तु**=विकसित करें।

भावार्थ—१. प्रभु 'अवट'=अनिन्दित व 'उखा'=भोगों से ऊपर उठकर देखने योग्य हैं। २. प्रभु-दर्शन करनेवाला अङ्गिरस्=एक-एक अङ्ग में रस के सञ्चारवाला बनता है। ३. प्रभु-दर्शन विशाल हृदयान्तरिक्ष में होता है। ४. प्रभु-दर्शन 'अदिति, देवपत्नी, धिषणा, वरूत्री, ग्ना, आच्छिन्नपत्रा, जनयः तथा देवी विश्वदेव्यावती' को होता है। अदीना देवमाता, देवपत्नी, बुद्धिमती, द्वेष से शून्य, छन्दोमय जीवनवाली, निरन्तर क्रियाशील उत्तम माता—प्रकाशमय जीवनवाली, दिव्यताओं की रक्षिका ही प्रभु-दर्शन के योग्य है।

सूचना—यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रभु-दर्शन के प्रसङ्ग में दर्शक के सब नाम स्त्रीलिङ्ग में हैं। सम्भवतः प्रभु पति हैं और उनका दर्शन करनेवाला जीव पत्नी है।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—मित्रः। **छन्दः**—निचृद्गायत्रीः। **स्वरः**—षड्जः॥

विश्वामित्र

मित्रस्य चर्षणीधृतोऽवो देवस्य सानसि। द्युम्नं चित्रश्रवस्तमम्॥६२॥

गत मन्त्र का प्रभु-दर्शन करनेवाला प्राणिमात्र का मित्र बनता है और 'विश्वामित्र' नामवाला होता है। यह विश्वामित्र कहता है कि—१. (क) **मित्रस्य**=(ञिमिदा स्नेहने) सभी जीवों के साथ स्नेह करनेवाले अथवा (प्रमीतेः त्रायते) रोगों व मृत्यु से बचानेवाले (ख) **चर्षणीधृतः**=(चर्षणयः कस्मात् कर्षणयो भवन्ति) कृषि आदि श्रम करनेवालों के पालक (ग) **देवस्य**=सारे व्यवहारों के साधक प्रभु का **अवः**=रक्षण (क) **द्युम्नम्**=ज्योतिर्मय (ख) **चित्रश्रवस्तमम्**=(श्रवः=यश) अत्यद्भुत यश और **सानसि**=(षणु दाने) उत्तम फलों को देनेवाला है, २. अर्थात् विश्वामित्र प्रभु को 'मित्र' के रूप में देखता हुआ कहता है कि वे प्रभु सभी के साथ स्नेह करते हैं, सभी को रोगों व पापों से बचाते हैं। वे प्रभु श्रमशील जीव का धारण करने से 'चर्षणीधृत्' हैं। **'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः'**। प्रभु से देवत्व को प्राप्त हुए-हुए ये सब देव श्रमशील के अनुकूल होते हैं। प्रभु 'देव' हैं, वे भक्त के जीवन को क्रियाशून्य नहीं होने देते, अपितु उसके जीवन को सदा प्रकाशमय रखते हैं। ३. प्रभु-दर्शन से सब सम्भजनीय वस्तुएँ प्राप्त होती हैं (सानसि), जीवन प्रकाशमय बनता है (द्युम्नं) तथा अद्भुत यश की प्राप्ति होती है (चित्रश्रवस्तमम्)।

भावार्थ—हम प्रभु-भक्त बनें। प्रभु-भक्त सभी का मित्र होता है, सभी का धारण

करता है, सभी के कामों को सिद्ध करता है। यह स्वयं सम्भजनीय वस्तुओं को प्राप्त करता है, ज्योतिर्मय जीवनवाला होता है, संसार में यशस्वी बनता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—भुरिग्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

उद्वपन

देवस्त्वा सवितोद्वपतु सुपाणिः स्वङ्गुरिः सुबाहुरुत शक्त्या।
अव्यथमाना पृथिव्यामाशा दिशऽआपृण॥६३॥

१. हे प्रभु-भक्त! **त्वा**=तुझे **सविता देवः**=सब दिव्य गुणों के बीज बोनेवाला, दैवी सम्पत्ति का स्वामी प्रभु **उद्वपतु**=उत्कृष्ट दिव्य बीजों से उप्त करे। तेरे हृदयक्षेत्र में प्रभु द्वारा उत्तम गुणों के बीज बोये जाएँ, परिणामतः २. तू उत्तम हाथोंवाला **सुपाणिः**=बन, तेरे हाथ सदा औरों की रक्षा के लिए विनियुक्त हों (पा रक्षणे)। वही हाथ पाणि है जो रक्षा में विनियुक्त होता है। ३. **स्वंगुरिः**=तू उत्तम अँगुलियोंवाला हो। (अगि गतौ) तेरी अंगुलियाँ सदा कार्यव्यापृत हों। इन्हें वेद में 'दीधिति' नाम भी दिया जाता है 'धीयन्ते कर्मसु' जो सदा उत्तम कर्मों में लगी रहती हैं। ४. **सुबाहुः**=तू उत्तम बाहुओंवाला हो (बाह प्रयत्ने)। तेरे प्रयत्न सदा उत्तम हों। ५. **उत**=और **शक्त्या**=शक्ति के कारण **अव्यथमाना**=कभी श्रान्त न होता हुआ तू **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर अथवा **दिशः**=सब दिशाओं को **आशाः आपृण**=आशाओं से परिपूर्ण कर दे, अर्थात् तू सर्वत्र आशावाद का सञ्चार करनेवाला बन। हमारे उत्तम प्रयत्नों का परिणाम इतना तो होना ही चाहिए कि कहीं भी निराशा न हो। घर के सब व्यक्तियों का जीवन आशामय हो। ६. यहाँ मन्त्र में क्रम यह है कि (क) उत्तम गुणों का बीज बोया जाए (ख) हम सुपाणि, स्वंगुरिः व सुबाहु बनकर अश्रान्त होते हुए शक्तिपूर्वक कार्य करें जिससे सर्वत्र सुख-ही-सुख हो और चारों ओर आशावाद का सञ्चार हो। (ग) इस क्रम से यह बात स्पष्ट है कि क्रियाशीलता में ही गुणों का वास है।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हममें उत्तम गुणों के बीज ही अंकुरित हों और हम अनथकभाव से सदा कार्य करनेवाले हों।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—मित्रः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पाकस्थाली

उत्थाय बृहती भवोदु तिष्ठ ध्रुवा त्वम्।
मित्रैतां तऽउखां परिददाम्यभित्याऽएषा मा भेदि॥६४॥

१. हे प्रभु-भक्त पत्नि! **उत्थाय**=उठकर, आलस्य छोड़कर **बृहती भव**=सदा वृद्धि को प्राप्त होनेवाली हो। आलस्य में गुणों का वास नहीं, गुण क्रियाशीलता में ही रहते हैं। गत मन्त्र में मूल भावना यही थी। **'योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये'** योगी लोग आत्म-शुद्धि के लिए सदा अनासक्तभाव से कर्म करते हैं, अतः तू २. **उ**=निश्चय से **उत्तिष्ठ**=सदा विषयासक्ति से ऊपर उठी रह। क्रियाव्यापृत व्यक्ति विषयों से बचा रहता है। ३. वैषयिक वृत्तिवाली न होने से **त्वम्**=तू **ध्रुवा**=स्थिर हो। विषय-वासना हमारे जीवनों को भटकनेवाला बना देते हैं। ४. हे **मित्र**=अपने को पापों से बचाकर पवित्र बने रहनेवाले व्यक्ति! **एताम्**=इस **ते**=तुझे **उखाम्**=पाकस्थाली को **परिददामि**=देता हूँ, इसलिए देता हूँ कि **अभित्या**=अ-भेदन हो। **एषा**=यह पत्नी **मा भेदि**=तुझसे भिन्न न हो जाए। यह पतिव्रतत्व

को छोड़कर परपुरुषासक्तिवाली न हो जाए। ५. मन्त्रार्थ में यह बात स्पष्ट है कि पत्नी कार्यव्यापृत हो। मनु ने पत्नी के लिए **'गृहकार्येषु दक्षया'**='घर के कार्यों में वह चतुर हो' इन शब्दों से यही संकेत किया है कि पत्नी को सदा कार्यव्यापृत रखना आवश्यक है। पत्नी के लिए पाकस्थाली की अध्यक्षता ही ऐसी है जो उसे अवकाश प्राप्त न होने देगी। इस कार्य का संकेत इसलिए भी हुआ है कि यही कार्य स्वास्थ्य का मूल साधन है। ऋतुओं के अनुकूल अन्न का ठीक परिपाक सभी को स्वस्थ रक्खेगा।

भावार्थ—पत्नी आलस्य शून्य हो, विषयों से ऊपर उठी हुई, घर में स्थिरता से रहे। घर के पाकादि कार्यों में अपने को व्यापृत रक्खे, जिससे वृत्ति सदा स्वस्थ रहे।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—वस्वादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—भुरिग्धृतिः। **स्वरः**—ऋषभः॥

उच्छर्दन

वसवस्त्वाछृन्दन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वद्रुद्रास्त्वाछृन्दन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदादित्यास्त्वाछृन्दन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वद्विश्वे त्वा देवा वैश्वानराऽ आछृन्दन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वत्॥६५॥

१. हे प्रभु-भक्त! **वसवः**=उत्तम निवास की विद्या के आचार्य **त्वा**=तुझे **गायत्रेण छन्दसा**=प्राणरक्षण की इच्छा से **छृन्दन्तु**=दीप्त करें, जिससे **अङ्गिरस्वत्**=तू अङ्गिरस् की भाँति बन सके। २. **रुद्राः**=वासनाओं के विनाश की विद्या के आचार्य **त्वा**=तुझे **त्रैष्टुभेन छन्दसा**=काम, क्रोध व लोभ को रोकने की इच्छा से **छृन्दन्तु**=दीप्त करें, जिससे तू **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बन सके। ३. **आदित्याः**=सूर्यसम-ज्ञान की ज्योति को धारण करनेवाले आचार्य **जागतेन छन्दसा**=जगती के हित की इच्छा से **त्वा**=तुझे **छृन्दन्तु**=दीप्त करें, जिससे तू **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बन सके। ४. **वैश्वानराः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले **विश्वेदेवाः**=सब देव (विद्वान्) **आनुष्टुभेन छन्दसा**=अनुक्षण प्रभु-स्तवन की इच्छा से **आछृन्दन्तु**=सर्वतः दीप्त करनेवाले हों, जिससे तू **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बन सके। ५. चार बातें ही हमें **अङ्गिरस्**=जीवन-शक्ति से परिपूर्ण, रसमय अङ्गोंवाला बना सकती हैं—(क) प्राणरक्षण की इच्छा, प्राणशक्ति को क्षीण न होने देने की प्रबल भावना (ख) काम, क्रोध व लोभ को रोकना (ग) जगती के हित में प्रवृत्त रहना, तथा (घ). अनुक्षण प्रभु-चिन्तन, उसी के नाम का जप, उसी का स्मरण। ६. वसुओं, रुद्रों, आदित्यों व विश्वेदेवों ने इन्हीं भावनाओं को हममें भरने के लिए यत्नशील होना है। ७. इन भावनाओं से ही हमारा जीवन दीप्त हो सकेगा।

भावार्थ—हम प्राणरक्षण, 'काम, क्रोध व लोभ'—निवारण, जगती के हित की कामना तथा प्रतिक्षण प्रभु-स्तवन से अपने जीवनों को दीप्त करें।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

मनु प्रजापति व वैश्वानर अग्नि

आकूतिमग्निं प्रयुजꣳस्वाहा मनो मेधामग्निं प्रयुजꣳस्वाहा चित्तं विज्ञातमग्निं प्रयुजꣳस्वाहा वाचो विधृतिमग्निं प्रयुजꣳस्वाहा प्रजापतये मनवे स्वाहाऽग्नये वैश्वानराय स्वाहा॥६६॥

१. विश्वामित्र निश्चय करता है कि **आकूतिम्**=(बलं आत्मनो धर्मो: मनसः

प्रेरणहेतुः—उ०, संकल्पः—म०) संकल्प को, जो **अग्निम्**=अग्रगति का साधन है, **प्रयुजम्**=(प्रयुङ्क्ते कर्मणि—उ०) और मनुष्य को कर्म में प्रेरित करता है, उसे **स्वाहा**=(सु+आह) मैं प्रशंसित करता हूँ। २. **मनः**=अनुष्ठेय (कर्त्तव्य) के स्मरण-साधन मन को, **मेधाम्**=ऋत-ज्ञान की धारणशक्ति मेधा को, जो **अग्निम्**=उन्नति का साधन है और **प्रयुजम्** =प्रकृष्ट कर्मों में प्रेरित करनेवाली है, उसे **स्वाहा**=मैं प्रशंसित करता हूँ। ३. **चित्तम्**=स्मरण-साधन चित्त को **विज्ञातम्**=चित्त से सम्यक् अवगत कर्त्तव्य-ज्ञान को, जो **अग्निम्**=उन्नति का साधन है और **प्रयुजम्**=प्रकर्षेण कर्मों में प्रेरित करनेवाला है, उसे **स्वाहा**=मैं प्रशंसित करता हूँ। ४. **वाचः विधृतिम्**=वाणी के विशिष्ट धारण को, व्यर्थ न बोलने, अर्थात् मौन को, जो **अग्निम्**=उन्नति का साधन है **प्रयुजम्**=प्रकर्षेण कर्मों में लगानेवाला है, उसे **स्वाहा**=मैं प्रशंसित करता हूँ। ५. **प्रजापतये मनवे**=प्रजाओं के रक्षक विचारशील पुरुष के लिए **स्वाहा**=मैं प्रशंसात्मक शब्द कहता हूँ। ६. **वैश्वानराय**=सब मनुष्यों के हित करनेवाले **अग्नये** =अग्रेणी पुरुष के लिए **स्वाहा**=मैं प्रशंसा के शब्द कहता हूँ। ७. जिन बातों को हम अच्छा समझते हैं धीमे-धीमे उन्हीं के धारण का प्रयत्न करते हैं, अतः हम अपने जीवन में 'संकल्प, मननशक्ति, मेधाचित्त, विज्ञात तथा वाचो विधारण' मौन को धारण करें तथा अपने जीवन का लक्ष्य यह रक्खें कि हम विचारशील प्रजापति बनेंगे अथवा सभी का हित करनेवाले नेता बनेंगे (मनु प्रजापति या वैश्वानर अग्नि)।

भावार्थ—हमें 'संकल्प, मनन, मेधाचित्त, विज्ञात व नपे-तुले शब्दों को बोलने की वृत्ति' को धारण करना चाहिए, जिससे हम विचारशील प्रजापति बन सकें अथवा सबका हित करनेवाले अग्रणी बन पाएँ।

ऋषिः—आत्रेयः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

धन—पोषण के लिए

विश्वो॑ दे॒वस्य॑ ने॒तुर्मर्तो॑ वुरीत स॒ख्यम्।
विश्वो॑ रा॒यऽइ॑षुध्यति द्यु॒म्नं वृ॑णीत पु॒ष्यसे॒ स्वाहा॑॥६७॥

पिछले मन्त्रों का ऋषि 'विश्वामित्र' था। विश्वामित्र वही बन पाता है जो 'आत्रेय' हो। 'काम, क्रोध व लोभ' तीनों से परे हो। यह आत्रेय कहता है कि—१. **विश्वः मर्तः**=संसार में प्रविष्ट सभी मनुष्य उस **देवस्य**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज **नेतुः**=सभी के सञ्चालक प्रभु की **सख्यम्**=मित्रता को **वुरीत**=वरें। मनुष्य को चाहिए यही कि प्रभु की मित्रता में निवास करे, प्रकृति का मित्र न बन जाए। प्रकृति की मित्रता में वास्तविक आनन्द की प्राप्ति की तो कथा ही नहीं, वहाँ मनुष्य अपने ज्ञान को भी खो बैठता है। २. परन्तु न जाने फिर भी **विश्वः**=सब कोई **रायः**=धनों को **इषुध्यति**=चाहता है। धन ही सबको प्रिय होता है। ३. वस्तुतः इस संसार-यात्रा के लिए धन आवश्यक भी है, इसके बिना एक भी पग चलना सम्भव नहीं, अतः धन को भी हम चाहें तो अवश्य, पर उतने ही **द्युम्नम्**=अन्न व धन को **वृणीत**=वरो जो **पुष्यसे**=पोषण के लिए पर्याप्त हो। यह भी मार्ग है कि हम धन को आवश्यक होने से लें तो, परन्तु उस धन को उतनी ही मात्रा में लें जितनी कि इस भौतिक शरीर के लिए आवश्यक है। ४. संसार में रहते हुए भी उसमें लिप्त न होने का यही तो उपाय है कि हम धनासक्ति से ऊपर उठें।

भावार्थ—हम प्रभु की मित्रता का वरण करें। यह अद्भुत बात है कि सब कोई धन

की कामना करता है। धन की कामना करनी चाहिए, परन्तु हमें उतना ही धन जुटाना चाहिए जिससे हमारी स्वतन्त्रता सुरक्षित रह सके।

ऋषिः—आत्रेयः। **देवता**—अम्बा। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

अ-भेद्य

मा सु भित्था मा सु रिषोऽम्ब धृष्णु वीरयस्व सु। अग्निश्चेदं करिष्यथः ॥६८॥

पति पत्नी से कहता है कि १. **सु**=(सु अति=स्वति पूजायाम्) हे प्रशंसनीय पत्नि! **मा भित्थाः**=तू मेरी मित्रता से पृथक् मत होना, तेरा और मेरा मनभेद न हो। २. **सु**=हे उत्तम जीवनवाली! **मा रिषः**=तूने हिंसित नहीं होना। वस्तुतः पति-पत्नी की मित्रता ठीक बनी रहे तो घर फूलता-फलता है, हिंसित नहीं होता। ३. **अम्ब**=हे मेरी सन्तानों की माता! तू **धृष्णु**=प्रगल्भता से **वीरयस्व**=वीर कर्म करनेवाली बन। माता को चाहिए कि उसका कोई भी कर्म निर्बल न हो, वह विघ्नों से घबरानेवाली न हो। ४. हे मातः! तू **अग्निः च**=और यह अग्नि **इदम्**=इस पाचन-कर्म को **सुकरिष्यथः**=उत्तमता से करोगे।

भावार्थ—१. पत्नी को पति के साथ अभिन्न मैत्रीपूर्वक रहना चाहिए। २. उसके प्रत्येक कर्म में शक्ति का प्रकाश हो। ३. वह पाचन-कर्म को उत्तमता से करनेवाली हो।

ऋषिः—आत्रेयः। **देवता**—अम्बा। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

पत्नी

दृꣳहस्व देवि पृथिवि स्वस्तयेऽआसुरी माया स्वधया कृतासि।
जुष्टं देवेभ्योऽइदमस्तु हव्यमरिष्टा त्वमुदिहि यज्ञेऽअस्मिन् ॥६९॥

१. हे **देवि**=दिव्य गुणोंवाली! **पृथिवि**=विशाल हृदयान्तरिक्षवाली! तू **दृंहस्व**=दृढ़ बन। घर में स्थिरता से रहनेवाली बन और **स्वस्तये**=घर की उत्तम स्थिति के लिए हो। जब पत्नी घर में दृढ़तापूर्वक नहीं रहती तो वह घर को उत्तम कभी नहीं बना पाती। २. तू **आसुरी**=(असु=प्राण) प्राणसम्बन्धिनी **माया**=प्रज्ञा **असि**=है, अर्थात् तू इतनी समझदार है कि अपनी पाचन-क्रिया से सिद्ध भोजन के द्वारा सभी के प्राणों का पोषण करनेवाली है। ३. **स्वधया**=अन्न के हेतु से **कृता असि**=तू (कृती कुशलः) बड़ी कुशल है, अन्न-पाचन में तू पूरी निपुण है। ४. **इदम्**=यह तुझसे पकाया हुआ **हव्यम्**=दानपूर्वक खाने योग्य अन्न **देवेभ्यः**=अग्न्यादि देवों से **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक सेवित **अस्तु**=हो, अर्थात् अग्नि में आहुति देने के बाद हम सिद्ध अन्न का सेवन करनेवालें हों। अग्निमुख से वह अन्न देवों में पहुँचे और फिर यज्ञशेषरूप अमृत का हम सेवन करनेवाले हों। ५. **अरिष्टा त्वम्**=अहिंसित होती हुई तू **अस्मिन् यज्ञे**=इस गृहस्थ यज्ञ में **उदिहि**=उन्नति को प्राप्त हो।

भावार्थ—१. पत्नी को गृह में स्थिर होकर रहना है। २. उसे ज्ञानपूर्वक भोजन बनाना है, जिससे सभी की प्राणशक्ति बढ़े। ३. अन्न-पाचन में वह कुशल हो। ४. यज्ञ करके यज्ञशेष ही सबको देनवाली हो। ५. इस यज्ञशेष के सेवन के परिणामरूप अहिंसित होती हुई यह गृहस्थ यज्ञ को खूब उन्नत करनेवाली हो।

सूचना—पत्नी के कर्त्तव्यों के निर्देशक मन्त्र आत्रेय ऋषि के थे। पत्नी के साथ व्यवहार में पति ने आत्रेय ही बनना है—काम, क्रोध व लोभ से ऊपर उठना है। अब अगले मन्त्र में पत्नी पति से कहती है। इस मन्त्र का ऋषि 'सोमाहुति' है। सोम की आहुतिवाला,

अर्थात् सौम्य भोजन करनेवाला। यह सौम्य भोजन करनेवाला व्यक्ति क्रोधादि से ऊपर उठेगा ही।

ऋषिः—सोमाहुतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

पति

द्रुवन्नः सर्पिरासुतिः प्रत्नो होता वरेण्यः। सहसस्पुत्रोऽअद्भुतः॥७०॥

१. पत्नी पति से कहती है—तू **द्रु+अन्नः**=वनस्पति भोजनवाला है। तू वानस्पतिक भोजन ही करता है, मांस-भोजन नहीं। २. **सर्पिः आसुतिः**=घृत ही तेरा आसव=मद्य हो। घृत ही तुझे मद्य के समान आनन्द देनेवाला हो। ३. तू **प्रत्नः होता**=पुराना होता हो, अर्थात् वंश-परम्परा से दानपूर्वक अदन करनेवाला हो। तुम्हारे कुल की रीति ही दानपूर्वक अदन करने की हो। पति जहाँ मद्य-मांस का सेवन करनेवाला न हो वहाँ सदा दानपूर्वक खानेवाला हो, अर्थात् यज्ञशेष का ही खानेवाला हो। ४. **वरेण्यः**=तू वरणीय हो। सभा-समाजादि में तुझे लोग प्रधानरूप से चुनें, अथवा तू उत्तम वरण करनेवाला हो, अर्थात् तू कभी ग़लत चुनाव न करे। परमात्मा व प्रकृति में से तू प्रकृति को न चुन (धन व ज्ञान में धन तेरा चुनाव न हो जाए। प्रेय और श्रेय में कहीं तू प्रेय का वरण करनेवाला 'मन्द' न बन जाए)। ५. **सहसस्पुत्रः**=तू बल का पुत्र हो, अर्थात् खूब बल-सम्पन्न हो। ६. **अद्भुतः**=तेरी उन्नति अभूतपूर्व हो। तू आश्चर्यरूप अनन्यसदृश हो।

भावार्थ—आदर्श पति सौम्य भोजनोंवाला हो, मद्य-मांस से ऊपर उठा हुआ हो। दान की वृत्तिवाला हो। ठीक चुनाव करनेवाला हो। शक्ति का पुञ्ज बने और अभूतपूर्व उन्नति करनेवाला हो।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

वर वधू से

परस्याऽअधि संवतोऽवराँ२॥ऽअभ्यातर। यत्राहमस्मि ताँ२॥ऽअव॥७१॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'विरूप' है, विशिष्ट रूपवाला। यह वधू से कहता है कि १. अब तू मुझसे 'ऊढ़' (विवाहित) हुई **यत्र अहम् अस्मि**=जहाँ मैं हूँ **तान्**=उन्हें (मेरे घरवालों को) **अव**=पालन करनेवाली बन। तू मेरे घर को ही अपना घर समझनेवाली हो। ३. **संवतः**=(संवन्वते=संभजन्ते) उत्तम प्रकार से पालन-पोषण करनेवाले **अवरान्**=अपने समीप के माता-पिता को व अन्य बन्धुओं को **अभ्यातर**=तैरकर अब तू इस पतिकुल की ओर आ जा। तेरा जीवन का पहला काल अपने बन्धुओं में ही बीता है, उन्होंने तुझे बड़े प्रेम से पाला है, परन्तु अब **परस्याः अधि**=अपनी दूसरी—अगली उत्कृष्ट जीवन-यात्रा का प्रकर्षेण ध्यान करती हुई तू उन सब सम्बन्धों को तैरकर इस पतिकुल में प्रवेश करनेवाली हो। ३. पितृगृह काल के दृष्टिकोण से 'अवर' है, पतिगृह 'पर'। 'पितृगृह' कन्या के दृष्टिकोण से इसलिए भी अवर है कि उसे बनानेवाली कन्या की माता है, परन्तु पतिगृह का निर्माण इसे स्वयं करना है, अतः कन्या के लिए यही 'पर' है। ४. यदि कन्या पितृगृह को भूल पाती है तभी वह पतिगृह का निर्माण करनेवाली बनती है।

भावार्थ—कन्या के लिए पितृगृह 'अवर' व पतिगृह 'पर' होना चाहिए। वह पतिगृह का निर्माण करती हुई उस घर में सबका पालन करनेवाली बने।

ऋषिः—वारुणिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

वधू वर से

परमस्याः परावतो रोहिदश्वऽइहागहि। पुरीष्यः पुरुप्रियोऽग्ने त्वन्तरा मृधः ॥७२॥

प्रस्तुत मन्त्र में दूर-दूर से आये हुए व्यक्तियों में से वधू एक का वरण करती है। यह निश्चित है कि वह औरों की अपेक्षा श्रेष्ठ रूपवाले 'विरूप' का ही वरण करेगी, अतः यह विरूप यहाँ 'वारुणि' हो जाता है। २. वधू वारुणि के विषय में कहती है कि यह **परमस्याः परावतः**=दूर-से-दूर देश से आया है। स्पष्ट है कि सम्बन्ध करने में 'दूरी' पहली सोचने योग्य बात है। समीपता में गुण-दोषों का पूर्व परिचय होने से उतना प्रेम नहीं बन पाता। इसी दृष्टि से 'दुहिता' की व्युत्पत्ति यास्क 'दूरे हिता' ही करते हैं। ३. **रोहिदश्व**=(रुह=प्रादुर्भाव, अश्व=इन्द्रियाँ) प्रादुर्भूत शक्ति-सम्पन्न इन्द्रियोंवाले वर! **इह आगहि**=आप इस घर में आओ। कन्या यह चाहती है कि उसके वरण के लिए ऐसे ही युवक आएँ जिन्होंने अपनी सब इन्द्रियों की शक्ति का उत्तम विकास किया है। वह उनमें से ही श्रेष्ठ का वरण करेगी। ४. **पुरीष्यः**=आप पालन-कर्म में उत्तम हो। पति बनने की यह भी आवश्यक योग्यता है कि वह कमानेवाला हो। जो धनार्जन नहीं कर सकता उसे गृहस्थ बनने का भी अधिकार नहीं है। ५. **पुरुप्रियः**=यह बड़ा या बहुतों का प्रिय हो। समाज में सभी को यह अच्छा लगे। यह किन्हीं का द्वेष्य न हो। यह झगड़ालू वृत्ति का न हो। ६. हे **अग्ने**=प्रगतिशील! **त्वम्**=तू **मृधः**=हमारा संहार करनेवाले 'काम, क्रोध व लोभ' को **तर**=तैर जा। पति के रूप में उसी का वरण करना चाहिए जो कामादि वासनाओं से ऊपर उठा हुआ हो।

भावार्थ—पति की योग्यताएँ ये हैं—१. दूर का हो, नज़दीकी रिश्तेदार व परिचित न हो। २. विकसित इन्द्रिय-शक्तियोंवाला हो। ३. पालन करने की योग्यता रखता हो। ४. प्रिय हो। ५. काम, क्रोध व लोभादि वासनाओं को तैरे हुए हो।

ऋषिः—जमदग्निः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

ये ही तिल-फूल

यदग्ने कानि कानि चिदा ते दारूणि दध्मसि।
सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्य ॥७३॥

जिस समय कन्या-पक्षवाले अपनी कन्या को योग्य वर के साथ परिणीत करते हैं तब उसके साथ 'सुदाय' (दहेज) के रूप में भी कुछ-न-कुछ देते ही हैं। उस धन को देते हुए वे कहते हैं कि १. हे **अग्ने**=प्रगतिशील युवक! **यत्**=जो **कानि-कानि चित्**=जिन किन्हीं भी **दारूणि**=लकड़ियों को **ते**=तेरे लिए **आदध्मसि**=धारण करते हैं **तत् सर्वम्**=वह सब **ते**=तेरे लिए **घृतं अस्तु**=घृत के तुल्य हो। इसी तिल-फूल को, 'पत्र-पुष्प' को तू बहुत समझना। २. **तत् जुषस्व**=उसी तुच्छ भेंट को तू प्रीतिपूर्वक सेवन करना। हमारी दी हुई यह मामूली भेंट भी आपसे आदर दी जाए। **यविष्ठ्य**=आप तो गुणों के ग्रहण व अवगुणों के दूर करनेवाले हैं। गुणों में प्रीति रखनेवाले आप इस भौतिक भेंट को बहुत महत्त्व न देंगे।

भावार्थ—वर को चाहिए कि वधू के गुणों को महत्त्व दे, न कि वधू-गृह की सम्पत्ति को। ७३, ७४वें मन्त्रों का ऋषि 'जमदग्नि' है। 'चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिः, यदनेन जगत् पश्यति अथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः'—श० १।२।१।३ के अनुसार जमदग्नि 'चक्षुः'

है। संसार को ठीक रूप में देखता है और विचार करता है। जो ठीक रूप में नहीं देखता वही धन को गुणों की अपेक्षा अधिक महत्त्व देता है।

ऋषिः—जमदग्निः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

तिल-फूल भी खाये हुए

यदत्त्युपजिह्विका यद्व्रोऽअतिसर्पति।
सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्य॥७४॥

१. गत मन्त्र में कन्या-पक्षवालों की ओर से विनीतता से 'सुदाय' देने का उल्लेख था। उसी विषय को और अधिक बल देकर कहते हैं कि ये हमारे कण भी वे हैं **यत्**=जिनको **उपजिह्विका**=चींटी **अत्ति**=खाती है, **यत्**=जिसे **व्रः**=दीमक **अतिसर्पति**=अपनी गति का खूब आधार बनाती है, अर्थात् पहले तो हमने कुछ दिया ही नहीं और जो दिया है 'वह भी बड़ी ठीक स्थिति में नहीं है'। तिल-फूल भी दिये, और वे भी खाये हुए, २. परन्तु आप तो **यविष्ठ्य**=गुणों के ग्रहण व अवगुणों के त्यागनेवालों में भी उत्तम हैं, अतः **सर्वं तत्**=वह हमसे दिया हुआ तुच्छ सामान भी **ते घृतं अस्तु**=आपकी दृष्टि में घृत के समान हो। खाई हुई लकड़ियों को भी आपने घृत समझना। **तज्जुषस्व**=उसे प्रीतिपूर्वक सेवन करना, उसे फेंकना नहीं।

भावार्थ—वर ने गुणग्राही बनना है, धनाग्रही नहीं।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

पत्नी पति की प्रतिवेश (पड़ोसिन)

अहरहरप्रयावं भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तोऽग्ने मा ते प्रतिवेशा रिषाम॥७५॥

१. गत मन्त्रों में वर्णित पति बड़े यज्ञिय स्वभाव का बनता है। यज्ञ को भुवन की नाभि कहा गया है। इस नाभि (यज्ञ) के सदा समीप रहने से यह 'नाभानेदिष्ठ' कहलाता है—सदा यज्ञों के समीप निवास करनेवाला। २. घर में पत्नी व गृह के अन्य सभ्य (members) इस अग्नि=प्रगतिशील गृहस्थ को उचित भोजन प्राप्त कराने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते हैं कि **अहरहः**=प्रतिदिन **अप्रयावम्**=(अप्रमत्तं यथा स्यात्तथा) प्रमादरहित होकर हम **अस्मै**=इस घर के व्यवहार को सिद्ध करनेवाले के लिए **घासम्**=वानस्पतिक भोजन को **भरन्तः**=धारण करनेवाले हों। **तिष्ठते अश्वाय इव**=यह उस घोड़े के समान है जो मार्ग पर आगे बढ़ता हुआ कुछ देर खाने के लिए खड़ा हुआ है। पति ने सदा श्रमशील होना है, उसके श्रम पर ही घर का ऐश्वर्य निर्भर करता है। घरवालों ने इसके भोजन का ध्यान करना है, जिससे वह अस्वस्थ न हो जाए। ३. इस प्रकार यह श्रमविभाग करके कि 'पति कमाये और पत्नी उसके स्वास्थ्यजनक भोजनादि का ध्यान करे', हम **रायस्पोषेण**=धन के पोषण से तथा **इषा**=अन्न से **संमदन्तः**=उत्तम हर्ष को प्राप्त होनेवाले हों। ४. हे **अग्ने**=गृहस्थयज्ञ के साधक! **ते प्रतिवेशा**=तेरे पड़ोसी बने हुए हम—तेरे समीप रहनेवाले हम **मा रिषाम**=आपकी कृपा से कभी हिंसित न हों। स्पष्ट है कि पति-पत्नी ने एक-दूसरे से बहुत दूर नहीं रहना। यही घर को उत्तम बनाने का उपाय है।

भावार्थ—पति कमानेवाला हो। पत्नी उसके भोजन का उचित ध्यान करनेवाली हो। पत्नी पति से बहुत दूर न रहे।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

सद्गृहस्थ

नाभा पृथिव्याः समिधानेऽअग्नौ रायस्पोषाय बृहते हवामहे।
इरम्मदं बृहदुक्थं यजत्रं जेतारमग्निं पृतनासु सासहिम्॥७६॥

१. **इरम्मदम्**=(इरया माद्यति) अन्न से हर्षित होनेवाले, अर्थात् वानस्पतिक भोजन में ही आनन्द लेनेवाले, २. **बृहदुक्थम्**=प्रभु का ख़ूब ही स्तवन करनेवाले, ३. **यजत्रम्**=यज्ञशील अथवा यज्ञों से अपना त्राण करनेवाले, ४. **जेतारम्**=विजयशील, ५. **अग्निम्**=निरन्तर आगे बढ़नेवाले ६. **पृतनासु सासहिम्**=संग्रामों में शत्रुओं का पराभव करनेवाले पुरुष को, ७. **पृथिव्याः नाभा**=(नाभौ) इन भुवनों के नाभिरूप यज्ञों में (अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः) **समिधाने अग्नौ**=अग्नि के समिद्ध होने पर, ८. **बृहते**=वृद्धि के कारणभूत **रायस्पोषाय**=धन के पोषण के लिए **हवामहे**=हम पुकारते हैं।

उपर्युक्त मन्त्रार्थ में यह स्पष्ट है कि गृहस्थ में पति बनने योग्य पुरुष वही है जो १. वानस्पतिक भोजन करता है, २. प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाला है, ३. यज्ञशील है, ४. विजेता, ५. व उन्नतिशील है। ६. काम, क्रोध व लोभ का आक्रमण होने पर उन्हें पराजित करनेवाला है, ७. यज्ञ को पृथिवी का केन्द्र समझ, सदा यज्ञाग्नि को समिद्ध करता है। ८. उस धन का पोषण करता है जो उसकी उन्नति का कारण बनता है, ह्रास का नहीं।

भावार्थ—ब्रह्मचर्याश्रम में हमारी साधना इस प्रकार हो कि हम द्वितीयाश्रम में प्रवेश करने पर एक सद्गृहस्थ बन सकें।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

न शत्रु, न चोर

याः सेनाऽअभीत्वरीराव्याधिनीरुगणाऽउत।
ये स्तेना ये च तस्करास्ताँस्तेऽअग्नेऽपिदधाम्यास्ये॥७७॥

१. गत मन्त्र में वर्णित सद्गृहस्थ बनने के लिए राज्य-व्यवस्था का उत्तम होना आवश्यक है। चोरों, डाकुओं व शत्रुओं के भय से रहित राज्य में ही सब प्रकार से जीवन की उन्नति सम्भव है, अतः कहते हैं कि २. **याः**=जो **सेनाः**=शत्रु-सेनाएँ **अभीत्वरीः**=राष्ट्र पर चारों ओर से आक्रमण करनेवाली हैं **आव्याधिनीः** =नाना प्रकार के अस्त्रों से विद्ध करनेवाली हैं, **उत**=और **उगणाः**=उद्यत आयुध-समूहवाली हैं—जिनके पास तलवार, बन्दूक आदि शस्त्र हैं। ३. इनके अतिरिक्त **ये**=जो **स्तेनाः**=चोर हैं, **ये च**=और जो **तस्कराः** (=द्यूतादिकापट्येन परपदार्थापहर्तारः—द०) द्यूत आदि के छल-कपट से दूसरों के धनों का हरण करनेवाले हैं, **तान्**=उन पुरुषों को, हे **अग्ने**=राष्ट्र के अग्रणी राजन्! **ते आस्ये**=तेरे मुख में **अपिदधामि**=स्थापित करता हूँ, अर्थात् राजा राष्ट्र में शान्ति व विश्वस्तता के लिए शत्रुओं के आक्रमण-भय को तथा राष्ट्र के अन्दर चोरों व लुटेरों के भय को समाप्त करने का पूर्ण प्रयत्न करे।

भावार्थ—किसी भी प्रकार की उन्नति तभी सम्भव है जब न बाह्य शत्रुओं के आक्रमणों की आशंका हो, न चोर-लुटेरों के उपद्रव का भय। इस सुराज्य को वही राजा ला सकता है जो 'नाभानेदिष्ठ' है—सदा यज्ञरूप-केन्द्र के समीप रहनेवाला है।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

राष्ट्र में कौन न रहें?

दꣳष्ट्राभ्यां मलिम्लून् जम्भ्यैस्तस्करा꣡ँ२॥ऽउत ।
हनुभ्याꣳस्तेनान् भगवस्ताँस्त्वं खाद सुखादितान् ॥७८॥

१. हे **भगवः**=राष्ट्र के उत्तम ऐश्वर्य के कारणभूत राजन्! **दंष्ट्राभ्याम्**=जैसे दाढ़ों से किसी वस्तु को चबा लिया जाता है, इसी प्रकार आप अपनी दण्ड-व्यवस्था व नीतिरूप दाढ़ों से **मलिम्लून्**=मलिन आचरणवाले लोगों को **खाद**=खा जाइए, अर्थात् समाप्त कर दीजिए। २. **उत**=और **जम्भ्यैः**=जैसे अग्रदन्तों से किसी वस्तु को कुतर दिया जाता है इसी प्रकार आप अपने व गुप्तचरों के प्रबन्ध से तथा रक्षापुरुषों की उत्तम व्यवस्था से **तस्करान्**=लुटेरों को समाप्त कीजिए। ३. **हनुभ्याम्**=जैसे जबड़ों से किसी भक्ष्य पदार्थ को पीस दिया जाता है इसी प्रकार हे राजन्! **त्वम्**=आप **स्तेनान्**=चोरों को **सुखादितान्** (सु= सुखेन खादन्ति)=आराम के साथ खाने-पीने में आसक्त लोगों को हनन उपायों से **खाद**= समाप्त कर दीजिए।

भावार्थ—राजा ऐसी व्यवस्था करे कि राष्ट्र में मलिन आचरणवाले, लुटेरे, चोर व बिना श्रम के मज़े से खानेवाले लोग न रहें।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। देवता—सेनापतिः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

जम्भाधान

ये जनेषु मलिम्लव स्तेनासस्तस्करा वने ।
ये कक्षेष्वघायवस्ताँस्ते दधामि जम्भयोः ॥७९॥

१. हे राजन्! **तान्**=उन्हें **ते**=तेरे **जम्भयोः**=तीव्र दाँतों में **दधामि**=स्थापित करता हूँ, अर्थात् आपके द्वारा उनका नाश करवाता हूँ, **ये**=जो **जनेषु**=लोगों के विषय में **मलिम्लवः**=मलिन आचरणवाले हैं, अर्थात् अपने आचरणों से सज्जनों के जीवनों में अशान्ति पैदा करते हैं। २. **ये**=जो **स्तेनासः**=चोर हैं, जो रात्रि के समय औरों के द्रव्यों को हरने का प्रयत्न करते हैं। ३. और जो **वने**=वन में रहनेवाले **तस्कराः**=लुटेरे हैं, **ये**=जो **कक्षेषु**=(नदीपर्वतगहनेषु) नदियों और पर्वतों के दुर्गम स्थानों में छिपे हुए **अघायवः**=दूसरों का अशुभ चाहनेवाले हैं, अर्थात् जो झाड़-झंकाड़ों में छिपे हुए आने-जानेवाले पथिकों की घात में बैठे होते हैं, उन्हें तेरे तीव्र दाँतों में स्थापित करता हूँ।

भावार्थ—राजा का कर्त्तव्य है कि वह मलिनाचरणवालों, चोरों, लुटेरों तथा परिपन्थियों को (घात लगाकर बैठे लोगों को) समाप्त कर दे।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। देवता—अध्यापकोपदेशकौ। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

मस्मसा-करण (चूर्णीकरण)

योऽअस्मभ्यमरातीयाद्यश्च नो द्वेषते जनः ।
निन्दाद्योऽअस्मान् धिप्साच्च सर्वं तं मस्मसा कुरु ॥८०॥

हे राजन्! १. **यः**=जो कोई भी **अस्मभ्यम्**=हमारे प्रति **अरातीयात्**=शत्रु की भाँति आचरण करे २. **च यत्**=और जो **जनः**=मनुष्य **नः द्वेषते**=हमसे द्वेष करता है—जिसे हमारे साथ नाममात्र भी प्रीति नहीं, ३. **यः अस्मान् निन्दात्**=जो हमारी निन्दा करे ४. **च**=और जो **धिप्सात् च**=हमें हिंसित करना चाहे या हमारे प्रति दम्भ से वर्ते **तं सर्वम्**=उन सबको

मस्मसा कुरु=चूर्णीभूत कर दे—मसल दे।

यहाँ आचार्य दयानन्द के भाष्य में 'भस्मसा कुरु' पाठ है। तब अर्थ होगा—'उन सबको भस्म कर दे।' ५. मन्त्र में यह संकेत है कि हे प्रभो! आपकी कृपा से हममें अरातिता, द्वेष, परनिन्दा व दम्भ की भावनाओं का अभाव हो। राष्ट्र वही उत्तम है जहाँ लोगों के मन इन दुर्भावनाओं से रहित हैं। राजा को शिक्षादि की ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि लोगों के मनों में ये भावनाएँ अंकुरित न हों।

भावार्थ—राजा अपनी प्रजा में परस्पर प्रेम की वृत्ति को जगाने का प्रयत्न करे।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। **देवता**—पुरोहितयजमानौ। **छन्दः**—निचृदार्चीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

राजपुरोहित की कामना

सꣳशितं मे ब्रह्म सꣳशितं वीर्यं बलम् ।
सꣳशितं क्षत्रं जिष्णु यस्याहमस्मि पुरोहितः ॥८१॥

१. पुरोहित राजा के लिए कामना करता है कि **यस्य**=जिसका **अहम्**=मैं **पुरोहितः अस्मि**=पुरोहित हूँ, उसका **क्षत्रम्**=बल **संशितम्**=तीव्र हो, प्रभावशाली हो। उसका बल **जिष्णु**=सदा विजयशील हो, अपना कार्य करने में सदा सफल हो। एक शाक्तिशाली राजा ही राष्ट्र की उत्तम व्यवस्था कर पाएगा, अतः उत्तम राष्ट्र-व्यवस्था के लिए राजा को सबल बनाना ही पुरोहित का मुख्य कार्य है। २. परन्तु वह स्वयं आदर्श (पुरः+हित) बनकर ही राजा के जीवन को उत्तम बना सकता है, अतः पुरोहित पहले स्वयं अपने लिए कामना करता है कि **मे ब्रह्म**=मेरा ज्ञान **संशितम्**=तीव्र हो, सदा अपने कार्य में समर्थ हो और **मे**=मेरी **वीर्यम्**=आन्तरिक रोगों की नाशकशक्ति **संशितम्**=तीव्र हो। परिणामतः मैं कभी रोगी न होऊँ और **मे**=मेरा **बलम्**=शत्रु-प्रतिरोधक बल **संशितम्**=तीव्र हो। निर्बल, रोगी व मूर्ख पुरोहित राजा को समझदार व सशक्त नहीं बना सकता।

भावार्थ—राष्ट्र में पुरोहित ज्ञानी, वीर्यवान् व सबल हों, जिससे वे राजा के लिए आदर्श (model=पुरोहित) बनें और राजा भी विजयशील शक्तिवाला बन पाये।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। **देवता**—सभापतिर्यजमानः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

उन्नयन

उदेषां बाहूऽअतिरमुद्वर्चोऽअथो बलम् ।
क्षिणोमि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वाँ२॥ऽअहम् ॥८२॥

१. एक पुरोहित अपने राष्ट्र-पुरुषों में शक्ति का सञ्चार करता हुआ कहता है कि **एषाम्**=इन राष्ट्र-पुरुषों की **बाहू**=भुजाओं को—पुरुषार्थ-साधक बाहुओं को **उत् अतिरम्**=मैं बढ़ाता हूँ। **एषाम्**=इनकी **वर्चः** =रोगनिवारक शक्ति को **अथो**=और **बलम्**=शत्रु-विनाशक शक्ति को भी **उत् अतिरम्**=बढ़ाता हूँ। २. **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा **अमित्रान्**=शत्रुओं को **क्षिणोमि**=हिंसित करता हूँ तथा **स्वान्**=अपनों को **अहम्**=मैं **उन्नयामि**=उन्नत करता हूँ। ३. राष्ट्र-पुरोहित सदा इस प्रकार प्रेरणा देने का प्रयत्न करता है कि सब राष्ट्र-पुरुषों की भुजाएँ शक्तिशाली बनें, उनका वर्चस् व बल बढ़े। इस प्रकार ज्ञान के प्रसार से वह शत्रुओं को क्षीण व अपनों को प्रबल बनाने के लिए सदा यत्नशील हो।

भावार्थ—पुरोहित का यह कर्तव्य है कि वह राष्ट्र-पुरुषों में शक्ति का सञ्चार करे, उन्हें सब प्रकार से उन्नत करने के लिए यत्नशील हो।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। **देवता**—यजमानपुरोहितौ। **छन्दः**—उपरिष्टाद्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

अनमीव अन्न

अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः।
प्रप्र दातारं तारिषऽऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥८३॥

१. सब प्रकार की उन्नतियाँ अन्न पर निर्भर करती हैं, अतः अन्न के विषय में प्रार्थना करते हैं कि **अन्नपते**=हे सब अन्नों के पति प्रभो! **नः**=हमें **अन्नस्य देहि**=अन्न प्राप्त कराइए। वह अन्न जो **अनमीवस्य**=व्याधिरहित है। राजस् अन्न 'दुःखशोकामयप्रदाः'=दुःख, शोक और रोग को देनेवाले हैं, अतः हम वही अन्न चाहते हैं जो हमें व्याधियुक्त करनेवाले नहीं, जो **शुष्मिणः**=शत्रुओं के शोषक बलवाले हों। जिन अन्नों के सेवन से 'काम, क्रोध व लोभ' का भी शोषण होता है और जो अन्न हमें बाह्य शत्रुओं को भी धर्षित करने के लिए शक्ति दें। एवं, अन्न रोगनाशक और बल के हेतु हों। २. हे प्रभो! **दातारम्**=देनेवाले को **प्रतारिष**=तैरा दो, जीवन के पार लगा दो, जो भी व्यक्ति देकर, बचे हुए को खाता है उससे तो अन्न वस्तुतः खाया जाता है (अद्यते), परन्तु जो त्यागपूर्वक उपभोग न करके अकेला ही सब-कुछ खा जाता है, उसे तो यह अन्न ही वस्तुतः खा लेता है (अत्ति च भूतानि)। ३. इस प्रकार त्यागपूर्वक उपयुक्त हुआ यह अन्न **नः**=हममें **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को **धेहि**=धारण करे। यदि एक व्यक्ति अन्न को अकेले न खाकर बाँटकर खाता है तो वह बल व प्राणशक्ति को प्राप्त करता है। ४. **द्विपदे**=दो पाँववाले मनुष्यों के लिए व **चतुष्पदे**=चार पाँववाले पशुओं के लिए भी नीरोगतावाले, शत्रुशोषक बलवाले अन्न को प्राप्त कराइए। मनुष्यों को तो अन्न प्राप्त हो ही, पशुओं को भी अन्न की कमी न रहे, अर्थात् हमारा राष्ट्र food और fodder से भरपूर हो—न मनुष्य भूखें मरें न पशु। राष्ट्र में सर्वत्र सुभिक्ष हो।

भावार्थ—१. हमारा अन्न निश्चितरूप से अनमीव (नीरोग) व शुष्मी (बलदायक) हो। २. हम सदा देकर बचे हुए अन्न को खानेवाले हों। ३. हमारे अन्न हमें बल और प्राणशक्ति दें।

॥ इत्येकादशोऽध्यायः सम्पूर्णः॥